UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182666
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—-699 -8-11-77 -5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H792 G72N Accession No. P.G.H607.

Author गोविन्ददास

Title नाट्य कला मीमांसा · 1961.

This book should be returned on or before the date last marked below.

शा० सा० प० व्याख्यान-माला १९६०

नाट्य कला मीमांसा

डा० गोविन्ददास

एल एल. डी., साहित्यवाचस्पति

सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश
द्वारा शासन साहित्य परिषद् के लिए प्रकाशित
१९६१

मूल्य
३ रु० ५० नये पैसे

मुद्रक
छपाई भवन, लश्कर
ग्वालियर

प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रकाशन देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० गोविन्ददास द्वारा उज्जैन में दिनांक २५ से २८ जुलाई, १९६० तक दिए गए चार व्याख्यानों का संग्रह है, जिनका आयोजन मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् द्वारा किया गया था। इस परिषद् की स्थापना सन् १९५४ में तत्कालीन मध्यप्रदेश शासन द्वारा इस उद्देश्य से की गई थी कि प्रदेश की भाषाओं के विकास के लिए उनमें उच्च कोटि के साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहित किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्रति वर्ष परिषद् की ओर से निर्दिष्ट विषयों पर उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं तथा अनूदित ग्रन्थों के लिए पुरस्कार दिये जाते हैं, निबन्ध-प्रतियोगिताएं की जाती हैं तथा विभिन्न विषयों पर विद्वानों की भाषण-मालाएं आयोजित की जाती हैं।

नवम्बर, १९५६ से उक्त परिषद् दो भागों—महाकोशल शासन साहित्य परिषद् तथा विदर्भ शासन साहित्य परिषद् में विभक्त हुई और अपने-अपने क्षेत्र में क्रमशः हिन्दी तथा मराठी भाषा के विकास में योगदान देने का दायित्व उन पर आया है। महाकोशल शासन साहित्य परिषद् ने अब समस्त नवीन मध्य-प्रदेश को अपना कार्य-क्षेत्र मान्य कर लिया है और वह मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के रूप में साहित्य की सेवा करने में अग्रसर हो रही है।

परिषद् का विश्वास है कि नाट्य कला जैसे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा आकर्षक विषय पर दिये गए भाषणों के इस संग्रह का साहित्य प्रेमी स्वागत करेंगे।

मध्यप्रदेश के सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय को शासन साहित्य परिषद् ने जिन पुस्तकों का प्रकाशन कार्य सौंपा है, "नाट्य कला मीमांसा" उन्हीं में से एक है।

भोपाल
५ अप्रैल, १९६१

वा० ना० पंडित
सचिव,
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्

निवेदन

इस पुस्तक में मेरे चार भाषण प्रकाशित हो रहे हैं, जो मैंने मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के निमंत्रण पर उज्जैन के विक्रम विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित माधव कालेज में दिनांक २५, २६, २७ और २८ जुलाई १९६० को उज्जैन में दिये थे।

भाषणों की इस पुस्तक का नाम मैंने "नाट्य कला मीमांसा" इसलिए रखा कि इसी विषय पर इसी नाम की लगभग २५ वर्ष पूर्व मैंने एक पुस्तिका लिखी थी। पच्चीस वर्ष के दीर्घ कालीन अध्ययन, चिंतन, मनन और अनुभव के पश्चात् भी इस सम्बन्ध में २५ वर्ष पूर्व जो मेरी मान्यताएँ थीं, उनमें कोई अन्तर नहीं पड़ा है। जिन मान्यताओं पर मैंने उस समय एक संक्षिप्त पुस्तिका लिखी थी उन्हीं पर इन भाषणों की सृष्टि हुई है। अतः मैंने इस पुस्तक का नाम "नाट्य कला मीमांसा" रखना ही उचित समझा। एक अन्तर अवश्य है कि उस पुस्तिका में नाट्य कला सम्बन्धी तत्वों और नाट्य के शास्त्रीय पक्ष के सम्बन्ध में ही अत्यन्त संक्षेप में कुछ कहा गया था। इन भाषणों में नाट्य कला सम्बन्धी तत्वों का और नाटक के शास्त्रीय पक्ष का कुछ विस्तृत विवेचन है। साथ ही, नाट्य साहित्य और रंगमंच के सम्बन्ध में उस पुस्तिका में कोई ऐतिहासिक अथवा आलोचनात्मक विवरण नहीं था, जो इन भाषणों में दिया गया है। यह विवरण भारतीय संविधान में स्वीकृत भारत की चौदहों भाषाओं के सम्बन्ध में तो है ही, इन्हीं के साथ प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के सम्बन्ध में भी है, जिन भाषाओं का अब केवल ऐतिहासिक महत्त्व रह गया है।

जिन विषयों का इन भाषणों में प्रतिपादन हुआ है उन पर वृहत् ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, कुछ लिखे भी गये हैं, परन्तु भाषण तो ग्रन्थ नहीं है, भाषणों के विस्तार की एक सीमा होती है और उस सीमा के भीतर ही विषय के सब पहलुओं का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है।

गोविन्ददास

अनुक्रमणिका

१.	नाट्य कला	५
२.	नाट्य साहित्य	३६
३.	नाट्य शास्त्र	६३
४.	रंगमंच	१३१
५.	परिशिष्ट	
	१. सन्दर्भ सूची	१६६
	२. सहायक ग्रंथों की सूची	१८६

विक्रम विश्वविद्यालय के उपकुलपति महोदय,
देवियो और सज्जनो,

आज विक्रम विश्वविद्यालय में मुझे भारतीय नाटकों का सैद्धान्तिक विवेचन व्याख्यानमाला के रूप में प्रस्तुत करने का जो सुअवसर मिला है, उसके लिए मैं मध्यप्रदेश की शासन साहित्य परिषद् के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ और उसे धन्यवाद देना अपना प्रथम कर्तव्य समझता हूं कि उसने मुझे यहाँ नाटक सम्बन्धी विशुद्ध साहित्यिक विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए आमंत्रित किया है। मैं हिन्दी भाषा और साहित्य का एक छोटा-सा सेवी तथा अनुरागी हूँ। मैंने स्वयं को साहित्य की अनेक दिशाओं में व्यक्त किया है। नाटक उनमें प्रधान है। इस क्षेत्र में मैंने एक निजी तन्मयता को लेकर एक सौ से अधिक नाटकों की रचना की है। विषय की दृष्टि से मैं समस्या-प्रधान, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक और जीवनी नाटक लिख पाया हूँ, पूरे, एकांकी और एक पात्री, तीनों ही प्रकार के। वैसे यह भी सूचित कर दूं कि गत चालीस वर्षों से यह हिन्दी सेवक राष्ट्रीय महासभा में रहकर स्वतन्त्रता-आन्दोलनों मे भी भाग लेता रहा है, यही कारण है कि मैं और मेरी मनोवृत्तियाँ मूलतः आदर्शवादी और गांधीवादी हैं। सभी नाटकों मे मेरे निजी विचार प्रतिपादित हुए हैं। मैंने आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व नाट्यकला सम्बन्धी सैद्धांतिक पुस्तिका 'नाट्य-कला मीमांसा" लिखी थी, जो अपने विषय की पहली पुस्तिका थी। इसको हिन्दी संसार में यथोचित सम्मान प्राप्त हुआ, जो मेरे लिए पर्याप्त गौरव और संतोष की बात है।

आज मुझे आपके सम्मुख नाटक संबंधी विवेचन प्रस्तुत करना है। इसके निमित्त यह पहले ही बता दूं कि सम्प्रति भाषण को स्पष्ट बनाने के लिए मैंने नाटक के इस विवेचन को चार प्रधान विभागो में विभाजित किया है—(१) नाट्य कला, (२) नाट्य साहित्य, (३) नाट्य शास्त्र, (४) रंगमंच।

मैंने हिन्दी नाटकों को विशेष सन्दर्भ में रखकर भारतीय सविधान मे स्वीकृत भारत की चउदहों भाषाओं के नाटकों को भी अपने विषय में समेट लिया है। यह तो स्पष्ट है कि भारतीय साहित्य की मूल संवेदना का स्रोत एव

स्पन्दन बिंदु एक ही है, वह है भारतीय संस्कृति। भारतीय संस्कृति सभी भाषाओं पर आच्छादित है। दूसरी विशेष बात भी ध्यान देने योग्य है कि हमारे देश की उत्तरी भाषाओं की जननी संस्कृत है और दक्षिणी भाषाओं पर भी संस्कृत का महान प्रभाव है, इसलिए संस्कृत साहित्य के निर्मित सिद्धान्त एवं मानदण्ड सभी भाषाओं में उपलब्ध हैं, इस कारण हिन्दी भाषा और साहित्य की मूल प्रवृत्तियाँ अन्य भाषाओं से पृथक् नहीं हैं।

एक बात और कह दूं। भाषण ग्रन्थ नहीं हो सकते। उनके विस्तार की एक सीमा रखनी पड़ती है। नाटक संबंधी जिन विषयों पर ये चार भाषण दिये जा रहे हैं उन चारों विषयों पर एक-एक वृहत् ग्रन्थ लिखा जा सकता है। कुछ एक भिन्न भिन्न भाषाओं में ये ग्रन्थ लिखे भी गये हैं। इन भाषणों में एक प्रयत्न अवश्य किया गया है कि हर भाषण में संक्षेप से उस विषय की समस्त बातें आ जायें; जिनमें प्रमुख हैं नाट्य कला का तात्त्विक विवेचन, नाटक का शास्त्रीय पक्ष, समस्त भारतीय भाषाओं के नाटकों और रंगमंचों का संक्षिप्त इतिहास और नाटक के सम्बन्ध में मेरी निज की मान्यताएँ एव सुझाव। भाषणों को संक्षिप्त रखने का प्रयत्न करने के बावजूद भी सभी भाषण, विशेषकर नाट्य साहित्य वाला भाषण, अपेक्षाकृत कुछ बड़े हो ही गये हैं। इन भाषणों के लिए अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा है और कुछ ग्रन्थों को सरसरी तौर पर देखना पड़ा है। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी भाषाएँ मैं जानता हूँ। गुजराती, मराठी और बंगला का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान रखता हूँ। शेष भाषाओं के ग्रन्थों को उन भाषाओं के पंडितों द्वारा समझने का प्रयत्न किया गया है। यह अधिकतर दिल्ली में हुआ है जहाँ सभी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता उपलब्ध हो जाते हैं। जिन ग्रन्थों से इन भाषणों में सहायता ली गयी है उनके नाम परिशिष्ट में दिये गये हैं, जो मैं यहाँ पढ़ूंगा नहीं, परन्तु, जब ये भाषण पुस्तकाकार छपेंगे उस समय यह परिशिष्ट पुस्तक के अंत में छप जायगा। यह परिशिष्ट मैं इसलिए दे रहा हूँ कि इस परिशिष्ट से जो सज्जन इस विषय का अध्ययन करना चाहेंगे उन्हें पुस्तकों की यह नामावली शायद उपयोगी हो।

अपने इन भाषणों को आरम्भ करने के पूर्व मैं इस पवित्र और ऐतिहासिक नगरी उज्जैन को प्रणाम करता हूँ। हमारी संस्कृति में सात मोक्ष-दायिनी पुरियों में से यह एक पुरी है—

अयोध्या, मथुरा, माया काशी कांची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका: ॥

फिर इसी पुरी में महाकवि कालदास ने अपने नाटकों की रचना की। यह मेरा परम सौभाग्य है कि जहाँ केवल भारत के ही नहीं, परन्तु समस्त संसार के सर्वश्रेष्ठ नाटक "अभिज्ञान शाकुन्तल" की रचना हुई वहाँ मुझे नाटक पर कुछ कहने का अवसर मिला है।

अब मैं अपने भाषणों का प्रथम भाषण "नाट्य कला" आरंभ करता हूँ।

नाट्य कला

(रूपरेखा)

१. सृष्टि की अनन्त रचना के दो प्रकार—जड़ और चेतन; चेतन में मनुष्य का श्रेष्ठत्व। उसका कारण।

२. मनुष्यकृत निर्माण में विज्ञान और कला।

३ उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ।

४. ललित कलाओं का उद्देश्य रस की निष्पत्ति।

५. ललित कलाओं के पाँच प्रधान विभाग।

६. विज्ञान और ललित कला का अन्तर।

७. ललित कला विशेषज्ञों के दो दल—एक का मत कला का उद्देश्य कला और दूसरे का मत कला का उद्देश्य सत् पथ पर ले जाना। दोनों मतों के सामंजस्य की आवश्यकता।

८. ललित कलाओं में काव्य का सर्वोच्च स्थान और काव्य में दृश्य काव्य का सर्वोच्च।

९. नाट्य कला पर भरत मुनि।

१०. नाट्य कला पर अरस्तू।

११. नाटक के तत्त्व—समस्या (अथवा विचार), कथानक, चरित्र चित्रण, संघर्ष (वाह्य और आन्तरिक) नाटक का लक्ष्य रस सचार। नाटक का माध्यम—कथोपकथन।

१२. कार्य-व्यापार का विवेचन। उसकी विशेषताएँ और नाटक में उसके महत्त्व का निर्णय।

१३. नाटक के पात्र। पात्र-चयन की समस्या। पात्रों के स्वरूप और उनकी प्रकृति पर विचार।

१४. चरित्र चित्रण। चरित्र चित्रण की तीन प्रणालियाँ।

१५. कथोपकथन । लम्बे भाषणों के समावेश का औचित्य । स्वगत भाषणों की उपयोगिता ।

१६. नाटक में संगीत ।

१७. नाटक में त्रासद्-तत्त्वों (ट्रैजिक एलीमेण्ट्स) का समावेश । दुःखान्त-नाट्य-लेखन के पक्ष-विपक्ष में विचार ।

१८. नाटक में कितने समय की कथा का समावेश हो सकता है ?

१९. आदर्श-नाटक के तत्त्वों का निरूपण ।

२०. सफल नाटक का साहित्य में स्थान ।

२१. आदर्शवाद, यथार्थवाद और स्वाभाविकवाद ।

नाट्य कला

जड़ चेतन सृष्टि और मानव

इस सृष्टि की अनन्त रचना के दो प्रकार हैं—जड़ और चेतन। चेतन सृष्टि में यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि मनुष्य इस सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है। मनुष्य को पशु समाज से पृथक् और श्रेष्ठतर स्थान प्रदान करने में सर्वप्रमुख हाथ उसकी चिन्तनात्मक शक्ति, उसके विवेक का है। जहाँ तक अनुभवात्मक क्षमता का प्रश्न है सामान्य पशु और मनुष्य में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। पशुओं के प्रत्येक कार्य के पीछे सहजवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) की प्रेरणा रहती है जब कि मनुष्य अपनी सहजवृत्तियों को अपने ज्ञान द्वारा नियंत्रित एवं निर्देशित करता रहता है। सभ्यता की परिभाषा करते हुए प्रख्यात पाश्चात्य विचारक डा० रसल ने कहा है कि सभ्यता का अर्थ है प्रकृति के विरुद्ध जाना। किन्तु, इधर लारेन्स सरीखे कतिपय पाश्चात्य विचारक खुले शब्दों में इस बात का प्रचार करने लगे हैं कि प्रकृति की ओर लौट जाने में ही मानवता का भविष्य सुरक्षित है। यहाँ, मैं आपका ध्यान इस बात पर आकर्षित करना चाहूँगा कि भारतीय परम्परा सदा कहती रही है कि मनुष्यत्व की परिणति देवत्व में होनी चाहिए। योगिराज अरविन्द की अतिमानव (सुपर-ह्यूमन) की कल्पना भी इसका एक दृष्टान्त है। अतः यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का श्रेष्ठतर अंग उसकी सहजवृत्तियाँ नहीं, वरन् वह ज्ञान है जो उसने अपने चिन्तन और अनुभवों द्वारा अर्जित किया है।

विज्ञान और कला

मनुष्य की इस ज्ञान शक्ति द्वारा उपार्जित पदार्थों को मोटे रूप से दो विभागों में बाँटा जा सकता है—नैसर्गिक और मनुष्यकृत। नैसर्गिक भाग में वे वस्तुएँ आती हैं जिनके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नहीं। मनुष्यकृत वस्तुएँ दूसरे विभाग की हैं। इन वस्तुओं के दो प्रधान विभाग किये जा सकते हैं—विज्ञान और कला। मानव ने जो कुछ भी निर्मित किया है, प्रधान रूप से वह सब इन्हीं दो भागों के अन्तर्गत आता है। चिन्तन तथा प्रयोग एवं परीक्षण द्वारा उपलब्ध चिन्तनात्मक ज्ञान विज्ञान है।

उपयोगी कला और ललित कला

कला के भारतीय विद्वानों ने चौंसठ विभाग किये हैं। परन्तु मोटे रूप

से कला के दो भाग हैं। एक उपयोगी कला अर्थात् जिसका पार्थिव उपयोग संभव है और दूसरी ललित कला, जो अपने दर्शन अथवा श्रवण से उन भावनाओं की उत्पत्ति करती है, जिनसे किसी न किसी रस की निष्पत्ति होती है। ये रस प्रधानतया नौ हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। यथार्थ में ललित कला का पार्थिव क्षेत्र ही नहीं है। मन में इन भावनाओं को उत्पन्न करने वाले तन में दो ही मार्ग हैं—नेत्र और कर्ण। मनुष्य की पाँच ज्ञानेन्द्रियों में नेत्र और कर्ण ही ऐसी इन्द्रियाँ हैं जिनका पार्थिव वस्तुओं से कोई प्रत्यक्ष संसर्ग न होते हुए भी इन मार्गों द्वारा इन नवों रसों का साक्षात्कार करने में वह समर्थ होता है और कला के किसी भी पक्ष की तल्लीनता की इस अवस्था में जब हमारा मन पहुँच जाता है तो उसकी तुलना हमारे ऋषि-महर्षि और तत्ववेत्ता मोक्ष सुख से करते हैं। ललित कलाओं को छोड़ चौंसठ कलाओं में ऐसी कलाएँ भी हैं जो सुख और आनन्द देती हैं, पर वे तब जब उन कलाजन्य-वस्तुओं का मानव की किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष संसर्ग होता है; जैसे भोज्य-सामग्री। भोज्य-सामग्री जिस कला द्वारा निर्मित होती है उसे पाक कला कहते हैं, परन्तु पाक कला जन्य वस्तु से मनुष्य तभी आनन्द प्राप्त कर सकता है, जब वह जिह्वा इन्द्रिय पर रखी जाय, अन्यथा नहीं। यह बात ललित कलाओं के सम्बन्ध में नहीं है। साथ ही सामान्य आनन्द और साहित्य के रस में एक तात्विक अन्तर यह है कि सामान्य आनन्द की पहुँच केवल इन्द्रिय-विशेष तक होती है और साहित्य का रस सम्पूर्ण मानव-चेतना को आन्दोलित कर देता है।

ललित कलाओं के पाँच विभाग

ललित कलाओं के पाँच प्रधान विभाग हैं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य। मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता अथवा सोचता है, उसे ज्ञान शक्ति के कारण प्रकट करता है। इसका कलात्मक प्रकाशन चाहे उसका कोई स्वरूप हो, ललित कला है। शर्त यह है कि उसमें रागात्मक संवेदन उद्बुद्ध करने की क्षमता हो। किसी वस्तु विशेष को देखने, अथवा किसी प्रसंग को सुनने और फिर इस देखने और सुनने पर सोचने, से मन में कल्पनाएँ उठती हैं, क्योंकि कुछ सीमा तक ही बुद्धि की पहुँच है। जहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं वहाँ मन कल्पना का आश्रय लेता है। जिन ललित कलाओं का कोई स्थूल आधार है जैसे स्थापत्य और मूर्ति का पाषाण, धातु, काष्ठ, मृत्तिका इत्यादि अथवा चित्र का पट आदि, उनके निर्माण में कल्पना को उतनी स्वतन्त्रता नहीं मिलती जितनी संगीत और

काव्य में, क्योंकि इन दो के आधार स्थूल पदार्थ न होकर केवल शाब्दिक संकेत मात्र हैं। चौंसठ कलाओं में ललित कलाओं का ऊँचा स्थान है और ललित कलाओं में संगीत और काव्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान इसीलिए है कि इन दोनों कलाओं में कल्पना को जितनी स्वच्छन्दता प्राप्त रहती है, अन्य ललित कलाओं में नहीं।

विज्ञान और ललित कला का अन्तर

विज्ञान मानव जीवन के भौतिक साधनों की खोज में ही अग्रसर होता है, इसलिए वह जीवन के एक पक्ष-विशेष की सीमाओं को ही स्पर्श करता है जबकि कला इसके विपरीत मानवीय संवेदनाओं का उद्‌घाटन करती है, कला अमूर्त भावनाओं, कुंठाओं को मूर्त्तमान करके जीवन की समस्त दिशाओं पर केन्द्रित रहती है। मेरा विचार है कि यदि कला अपने चरम पर पहुँचे तो वह अति मानवतावादी होगी और रचनात्मक होगी; लेकिन विज्ञान के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने चरम पर पहुँचकर मानवीय बना रहे। वह मानव संहार भी कर सकने में समर्थ हो सकता है। अणुशक्ति अपनी वैज्ञानिक स्थिति में यदि मानव जीवन के विकास हेतु काम में लायी जाय तो मानव विकास संभव है, लेकिन वही अणुशक्ति यदि किसी बम के माध्यम से विस्फोटित हो तो मानव-संहार भी अवश्यम्भावी है।

विज्ञान और ललित कला में मूल अन्तर भी यही है कि विज्ञान की पहुँच केवल तथ्यज्ञान तक ही परिसीमित है, परन्तु मनुष्य को केवल बुद्धि प्रदत्त तथ्य ज्ञान से ही संतोष नहीं होता। तथ्य ज्ञान से आगे बढ़ वह प्रकृति जगत एवं अन्य जीव जगत से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर उससे भाव प्रधान एकात्मानुभूति का प्रयत्न करता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मनुष्य इस भावात्मक अनुभव का भोक्ता बनने का इच्छुक क्यों है ? उत्तर स्पष्ट है कि मनुष्य की सम्पूर्ण सक्रियता का लक्ष्य है—रसात्मक अनुभव। अत: जब तक हम किसी वस्तु का भावात्मक स्तर पर अनुभव न करें तब तक हमारे मन में रस का प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता। अतः ललितकला का सम्बन्ध है रस से और विज्ञान का उपयोगिता से।

फिर एक बात और समझ लेना चाहिए। विज्ञान, चाहे वह कोई भी विज्ञान क्यों न हो, मानव जीवन के किसी एक क्षेत्र को प्रभावित करता है; कला समस्त मानव जीवन को।

डारविन का कथन है कि मानव का वर्तमान रूप उसे विकास पथ से प्राप्त हुआ। मानव का सबसे निकट का पूर्वज वन मानुष है और वन मानुष का सबसे निकट पूर्वज बन्दर। इस मत से मतभेद रखनेवाले विद्वानों की कमी नहीं है। परन्तु हमारे आज के विषय से इसका सम्बन्ध नहीं। मानव सर्वप्रथम कहाँ उत्पन्न हुआ, इस पर भी विभिन्न मत हैं। इससे भी हमारे आज के विषय का कोई सरोकार नहीं। मानव पहले जगलों में जंगली जीवों के सदृश रहता और आहार विहार करता था, इस पर भी पूर्ण मतैक्य नहीं है। परन्तु इससे भी हमारे आज के विषय का सम्बन्ध नहीं।

हमारा आज का विषय प्रयोजन रखता है संस्कृत और सभ्य मानव से। इतिहास में संस्कृति और सभ्यता का जहाँ सबसे पहले विकास हुआ, उन स्थलों में चार प्रधान देश हैं –भारत, मिश्र, चीन और यूनान। परन्तु इन चारों देशों में से भी जिन देशों ने संसार के मानव ज्ञान को सबसे अधिक और व्यापक रूप से प्रभावित किया वे दो ही हैं—भारत और यूनान। मिश्र और चीन में भी संस्कृति और सभ्यता का चाहे भारत और यूनान के सदृश ही सर्व प्रथम विकास हुआ हो, परन्तु मिश्र और चीन की संस्कृति और सभ्यता ने समस्त संसार को उस प्रकार प्रभावित नहीं किया जिस प्रकार भारत और यूनान की सस्कृति और सभ्यता ने। कला और ललित कला का विकास इसी संस्कृति और सभ्यता के विकास के अन्तर्गत आ जाता है।

ललित कला विशेषज्ञों के दो दल

ललित कलाओं से अनुराग रखने वाले महानुभावों को मालूम है कि ललित कला विशेषज्ञों में दो दल हैं। एक का मत है कला का उद्देश्य कला ही है (Art for art's sake)। दूसरा कहता है कला का उद्देश्य सत्पथ पर ले जाना है। मुझे इन कला विशेषज्ञों में पूर्वीय और पश्चिमी दोनों ही प्रकार के प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के मतों को पढ़ने और सुनने का सौभाग्य मिला है। जहाँ मुझे प्राचीन भारतीय विद्वान भरत, मम्मटाचार्य, विश्वनाथ, क्षेमेन्द्र और पण्डितराज जगन्नाथ आदि तथा प्राचीन यूनानी विद्वान् अफलातूं और अरस्तू इत्यादि के कला सम्बन्धी विवेचनों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ है, वहाँ मुझे आधुनिक भारतीय विद्वानों तथा पश्चिमी विद्वानों—जर्मनी के केण्ट, सेलिंग, हीगल और सोपेनहावर, वफीयर और टेन फ्रान्स के वाल्टेयर, इग्लैण्ड के हर्बर्ट स्पेन्सर, जान रस्किन,

कलाइव वैल आदि के मतों को पढ़ने का भी अवसर मिला है। इन विद्वानों के मतों के अध्ययन और मनन के पश्चात् मैं तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि कला के सम्बन्ध में यह विवाद ही निरर्थक है। जो लोग कुछ भी अनर्गल विचार प्रस्तुत कर कहते हैं कि कला का उद्देश्य कला ही है अथवा जो लोग कला को जीवन के लिए साधन मानते हैं वे दोनों एकांगी और एकपक्षीय हैं। फिर केवल मनोरंजन तो ऐसा मनोरंजन भी हो सकता है जिसका नतीजा दुखप्रद निकले।

अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि कला का प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष सम्बन्ध कल्याण से भी है। भारतीय चिन्तकों ने इस प्रश्न पर पर्याप्त चिन्तन और मनन किया है। काव्यकला जो ललित कलाओं का सर्वश्रेष्ठ रूप है, उसके सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती समस्त आचार्यों के चिन्तन का सार प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित यो पदेशयुजे ।।

अर्थात् काव्य का प्रयोजन यश, धर्म और व्यवहारिक ज्ञान की प्राप्ति, अकल्याण की क्षति, सद्यः आनन्द प्राप्ति और कान्ता सम्मित उपदेश है। इस उक्ति में "कान्ता सम्मित उपदेश" का सकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कान्ता सम्मित उपदेश से अभिप्राय है वह सीख जिसका माध्यम माधुर्य है। अतः काव्य का प्रयोजन हुआ लोक कल्याणात्मक तत्वों की रागात्मक अभिव्यक्ति। प्रसिद्ध पाश्चात्य चिन्तक एवं कवि ड्राइडन का मत भी कुछ इसी प्रकार है। काव्य प्रयोजन स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—"माधुर्य सिक्त उपदेश ही समस्त काव्य का सामान्य प्रयोजन है।" गांधी जी के मतानुसार "कला का सम्बन्ध नीति, हितकारिता और उपयोगिता से नहीं है, केवल सौन्दर्य से है, ऐसा कहना कला और सौन्दर्य को न समझने जैसा है।" जो कला के लिए कला मानने वाले हैं उन्हें फ्रांस के प्रसिद्ध साहित्यकार रोमा-रोलाँ ने अच्छी फटकार दी है। वे अपने सर्वश्रेष्ठ उपन्यास "ज्याँक्रिस्टोफीन" में एक जगह लिखते हैं—

"कला के लिए कला ! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो

बलवानों का है। कला ! जीवन को वैसे ही जकड़ कर पकड़ना जैसे गरुड़ अपने शिकार को पकड़ता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन-मंडल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड़ जाना। इसके लिए तुम्हें सुदृढ़ पंजों, महान् पंखों और बलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु, तुम हो क्या ? तुम हो मकानों में फुदकनेवाली मामूली चिड़िया, जिसे ज्योंही मांस का नन्हा-सा टुकड़ा मिल जाता है त्योंही उस पर इधर-उधर चोंच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियों से लड़ते हुए चेंचें करती है। कला के लिए कला ! रे तुच्छ मनुष्य ! कला वह मार्ग नहीं है जिस पर अपने को पथिक समझनेवाले सभी चल सकें। इस पर कहा जायगा कि क्यों नहीं, जबकि कला में मज़ा है, जबकि उसमें सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रक्खो, यह वह आनन्द है जो लगातार कड़े से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है, यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य बलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है नियंत्रित, संयमित, मर्यादित जीवन। कला जीवन का सम्राट् है। सीजर के समान सम्राट् होने के लिए सीजर की-सी बलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट् होना तो दूर रहा, साधारण राजाओं की छायामात्र हो। तुम साधारण अभिनेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नहीं कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियों तथा दोषों के द्वारा पैसा पैदा करते हैं उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियों से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढ़ते हो। तुम जान-बूझकर तत्परता से अपने देशवासियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियों, उनकी कायर प्रयत्नहीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओं, उनकी कामुक मनोवृत्तियों, उनकी काल्पनिक मनुष्य हित-कामनाओं को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियों को, जो इच्छा-शक्ति को कमजोर करती हैं, जो कर्मण्यता को खोखला करती है, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशों से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल में ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परंतु तुम स्वीकार न करोगे। मैं तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहाँ कला नहीं है। कला तो जीवन का स्रोत है। परंतु, तुम्हारे सबसे अधिक ईमानदार समझे जाने वाले लेखक तक इतने कायर हैं कि उनकी आंखों की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते हैं। वे धृष्टतापूर्वक कहते हैं 'हाँ, कला के लिए कला का सिद्धांत खतरनाक है, ज़हरीला है, परन्तु उसमें बुद्धि है, प्रतिभा है' वाह ! कितना विचित्र तर्क है

मानों किसी गुण्डे को सजा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे कि—'यह पापी अवश्य है, परंतु इसमें बड़ी बुद्धि है, बड़ी प्रतिभा है' ।"

कला मात्र मनोरंजन के लिए नहीं होती और न वह मात्र आडम्बर के लिए, बल्कि वह जन-साधारण के जीवन-पक्ष में संस्कारों की भाँति अभिबोध होकर प्रवेश करती है और उसे सौन्दर्योन्मुखी बनाती है । "कला कला के लिए" का सिद्धान्त जीवन से दूर हटकर मात्र वाह्य एवं भौतिक प्रसाधनों में तन्मय रहता है । कला जीवन के लिए होना चाहिए और मनोरंजन भी कौतूहल बने रहने के लिए होना चाहिए ।

महान् कलाजन्य वस्तु की कसौटी

कलाजन्य वस्तुओं में कौन महान् है, इसे तौलने के लिए हमें अन्य साधनों की भी आवश्यकता होती है । कोई कह सकता है—जिस वस्तु में अत्यधिक मौलिकता हो, वही महान् समझी जानी चाहिए, कोई यह भी कह सकता है कि जिसके द्वारा सबसे अधिक मनोरंजन हो, वही सर्वश्रेष्ठ है और कोई यह भी विचार प्रस्तुत कर सकता है कि जिससे सबसे अधिक शिक्षा मिले, वही सर्वोत्कृष्ट वस्तु है । इस संबध में इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता जान रस्किन ने अपने "माडर्न पेन्टर्स" नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में एक स्थल पर कलाजन्य उत्तम वस्तु की सुन्दर व्याख्या की है । वे लिखते हैं—

"अब मैं उत्तम कलाजन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश्य आ जावें । इसीलिए मैं यह नहीं कहता कि वही कलाजन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनंद देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश्य कदाचित् शिक्षा देना हो और आनंद देना न हो । मैं यह भी नहीं कहता कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश्य कदाचित् आनंद देना ही हो और शिक्षा देना न हो । मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि कलाजन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है जिसमें सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश्य नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो । और मैं यह भी न कहूँगा कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सबसे अधिक नवीनता हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश्य अनुकरण करना हो और नवीनता

का निर्माण नहीं। मैं तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान् विचारों को उत्पन्न कर सके।"

कला संबंधी श्रेष्ठता के लिए मेरा मत है कि कला-कृति में कथा की मौलिकता तो हो ही, साथ में मनोरंजन भी हो, जिससे कौतूहल में कमी न आने पाये और वह शिक्षाप्रद भी हो जिसके फलस्वरूप मानवता का विकास हो इसके अतिरिक्त यह भी अनिवार्यता होनी चाहिए कि कलाकार का व्यक्तित्व भी उसकी कृति में मुखरित हो और व्यक्तित्व के सन्दर्भ में युग, समाज, संस्कृति, सभ्यता, जन-जीवन की अन्तर्मुखी वृत्तियाँ भी परिलक्षित हों। इस प्रकार उपर्युक्त चर्चित कला-सबंधी विशेषताओं से सम्पन्न कलाकार की कृति श्रेष्ठ होती है।

आदर्श कलाकृति की परिभाषा करते हुए ताल्सताय ने लिखा है-- "पूर्ण कलाकृति वह होगी जिसमें वस्तुतत्व सर्व व्यक्तियों के लिए महत्वपूर्ण और सार्थक होगा और इसलिए वह नैतिक होगा। अभिव्यक्ति सबके लिए स्पष्ट एवं बोधगम्य होगी और इसलिए सुन्दर होगी। अपनी रचना के साथ कलाकार का संबंध पूर्णतः निष्ठापूर्ण और मार्मिक होगा और इसलिए सत्य भी।" हमारे 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं'' के आदर्श से ताल्सताय का यह कथन कितना मिलता जुलता है।

विशिष्ट कला और महान् कला को अन्तर्निर्धारित करते हुए पाश्चात्य विचारक वाल्टर पेटर लिखते हैं--- "साहित्य जब अपना विशिष्ट उत्कर्ष शब्द और भाव की पूर्ण अनुरूपता में प्राप्त करता है, तब वह अच्छी कला की माँग को, वस्तु की कलात्मक प्रकृति की माँग को ही सर्वत्र पूरा करता है। यह कला अच्छी कला होगी, पर यह आवश्यक नहीं है कि महान् कला भी हो। .कला की महानता इस पर निर्भर है कि वह जिस बस्तु को अनुप्राणित अथवा नियमित करती है, वह किस कोटि की है, उसकी विविधता, महत् उद्देश्यों से उसकी सन्धि, उसके विद्रोह की गहराई अथवा आशा के संकेत---ये सब उसकी महानता को निर्धारित करते हैं।"

कलाकृति के निर्माण में उद्देश्य आवश्यक

इस प्रकार की कलाकृति का निर्माता अपनी बस्तु के निर्माण की कोई

योजना बनाता है अथवा बिना योजना बनाये ही निर्माण का कार्य आरंभ कर देता है अथवा योजना बनाने के बाद जैसे-जैसे उसका कार्य आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उस योजना में परिवर्तन होता जाता है, इस संबध में एक ही बात नहीं कही जा सकती। हमें तीनों प्रकार के कलाकार मिलते हैं, लेकिन प्राय: तीसरी तरह के कलाकारों की कृतियाँ ही सर्वश्रेष्ठ होती हैं। बात यह है कि सच्चे कलाकार अपनी वस्तु की पहले से योजना बना लेने पर भी निर्माण के समय अपने काम में इस तरह तल्लीन हो जाते हैं कि उन्हें अपने और अपने कार्य के मध्य भिन्नता का भास ही नहीं होता। उनका काम उन्हें अपनी बनायी हुई योजना के अन्दर बँधा नहीं रहने देता और उनका कार्य जिस ओर उन्हें ले जाना चाहता है, उस ओर बिना जाने मंत्रमुग्ध की भाँति वे खिचे हुए चले जाते हैं। फिर भी यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि किसी भी कलाजन्य महान् वस्तु के निर्माण में अगर पूरी योजना न भी बनायी जाय तो भी उसका प्रधान उद्देश्य तो पहले से निश्चित हो ही जाता है। इस विषय में रूस के प्रसिद्ध साहित्यकार चैखव ने एक स्थान पर लिखा है—

"प्रत्येक कलाजन्य रचना का कोई एक उद्देश्य अवश्य होना चाहिए और उसे अपने समक्ष रखकर रचना करनी चाहिए। पर, ऐसा न करके यदि तुम बिना किसी उद्देश्य को अपने दृष्टिकोण में रखकर, कला के पथ पर अग्रसर होगे तो तुम न केवल अपना व्यक्तित्व, वरन् अपना विशेषत्व भी नष्ट कर दोगे।"

कलाकृति का निर्माता अपने निजत्व को एक आत्मविभोर की स्थिति में रखकर जड़-चेतन के मध्य एकात्म्य का बोध करता है और इस स्थिति में वह भाव-योग की स्थिति प्राप्त कर लेता है। कलाकार का सत्य युग-प्रभावित तो होता है लेकिन यदि वह देश-काल की सीमाओं में आबद्ध न हो तो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए शिव होकर प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होता है और उसकी कला संजीवित होती है। कला में कलाकार का युग सत्य जब शाश्वत सत्य के रूप में अभिव्यक्त होता है तो उसकी कला प्रत्येक युग के लिए सामयिक बनी रहती है। निर्माण करना कलाकार का स्वभाव नहीं होता बल्कि वह सहज रूप में वातावरण, परिस्थितियों से आकुल होकर अनुभूतियों के कोमल एव संस्पर्शी भावों को भावी पीढ़ी के लिए छोड़ जाता है। कलाकर का सत्य ही शिव है और शिव होने के कारण यह सुन्दर भी है। कलाकार अपने अन्तर्जगत की रूप-कल्पना को अपनी कला में कल्पना का आश्रय लेकर एक सौन्दर्य-सत्य की

अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है और सौन्दर्य के विराट एवं कोमल दो विशेष गुणों के सन्तुलन को भी अपनी कला में प्रस्तुत करता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि कला के उद्देश्य की महानता का निर्णय किस कसौटी से किया जाय, जब कि अब तक यही निर्णय नहीं हो पाया है कि मनुष्य जीवन का क्या उद्देश्य है तथा मनुष्य का व्यक्तिगत अथवा सामूहिक जीवन किस तरफ किस प्रकार जा रहा है। यदि एक काल के तत्ववेत्ताओं ने मनुष्यजीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य के सम्बन्ध में एक बात कही है तो दूसरे कला के तत्ववेत्ताओं ने उसके ठीक विपरीत। किसी समय अगर मनुष्य जीवन का सर्वप्रधान उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति रहा है तो किसी समय ईश्वर के अस्तित्व पर ही सबसे अधिक अविश्वास। किसी समय अगर समाज के सामूहिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य माना गया है तो किसी समय व्यक्तिगत जीवन की उन्नति। जिस काल में जिस विचार का प्राधान्य रहा है, उस काल के कलाकारों का कृतित्व भी उसी के अनुरूप होता है। बात यह है कि जिस काल में मनुष्य उत्पन्न होता है, जिस काल में उसका लालन पालन और शिक्षण होता है, उसका मस्तिष्क और हृदय उसी काल एवं उसी वातावरण के अनुसार बन जाता है तथा उसकी छाप उसकी कृतियों में भी रहती है, यहाँ तक कि अगर उससे वह बचना चाहे तो भी नहीं बच सकता। इसीलिए कला को उस युग विशेष के मानव-समाज का चित्र भी कहा जाता है। हरेक कलाकार की कृति में हमें उसके समय के समाज का किसी न किसी तरह का चित्र अवश्य ही देखने को मिलता है। इसलिए मनुष्य जीवन और कला के सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य के सम्बन्ध में एक ही बात नहीं कही जा सकती।

कलाकार पर भौगोलिक और ऐतिहासिक प्रभाव

कलाकार पर भौगोलिक प्रभाव भी पड़ता है। वह इतिहास का अध्ययन भी सन्दर्भ रूप में रखता है। वह सामाजिक-प्राणी होने के कारण सामाजिक-रूढ़ियों, विषमताओं आदि के सम्बन्ध में अपनी कला में अपनी मान्यताओं को दार्शनिक रूप में या प्रतीक-विधानों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। वह अपने देश के निसर्ग की सुषमा को भी सौन्दर्य रूप में ग्रहण करता है। भावना प्रधान प्राणी होने के कारण वह निधि रूप में सजाये हुए भावों को कला के माध्यम से रखता है। इस कारण भाव पक्ष को, जो कलाकार की निजी सम्पत्ति होती है, कलापक्ष से सामंजस्य स्थापित कर वह पूर्ण रूप को प्राप्त करता है।

जब व्यक्तिगत अनुभूतियाँ साधारणीकरण की स्थिति प्राप्त कर लेती हैं तो वह सम्पूर्ण मानव-जाति की अनुभूतियाँ बन जाती हैं। यह भी कथनीय है कि कलात्मक शैलियों के प्रधान भेद हैं (१) विषयगत (Subjective) और (२) उद्देश्यगत (Objective)। इन दोनों के माध्यम से आदर्शों को पूर्ण अभिव्यंजना की उपलब्धि होती है। प्रथम में आदर्श व्यक्तिगत कथन के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, द्वितीय में वर्णन-प्रधान शैली के। यह काव्य-कला में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय साहित्य में ये दोनों रूप परिलक्षित होते हैं।

ललित कला में दृश्य काव्य की श्रेष्ठता

जो बात अन्य कलाओं के सम्बन्ध में सही है, वही ललित कलाओं के सम्बन्ध में भी। पहले कहा गया है कि ललित कलाओं में काव्यकला का सर्वोच्च स्थान है। काव्यकला में दृश्य काव्य का। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य के श्रेष्ठ होने का यह कारण तो है ही कि जहाँ श्रव्य काव्य केवल कानों द्वारा आनन्द देता है, वहाँ दृश्य काव्य कानों और आँखों दोनों मार्गों द्वारा, परन्तु, इसी के साथ दृश्य काव्य का स्थान ऊँचा होने का एक कारण और भी है। वह यह कि उसमें पाँचों ललित कलाओं का इकट्ठा समावेश रहता है। नाटक में जो दृश्य दिखाये जाते हैं. उनमें स्थापत्य, मूर्ति और चित्रकला का समावेश रहता है तथा नृत्य, गायन और कथोपकथन में संगीत और काव्य का। पहले कहा गया है कि भारत और यूनान दो देशों की संस्कृति और सभ्यता का विश्व पर सबसे व्यापक प्रभाव पड़ा। इन्हीं दो देशों में नाट्य कला का भी सबसे पहले सूत्रपात और विकास हुआ। इन दोनों देशों में से भी इस कला का सर्व प्रथम प्रादुर्भाव भारत में ही हुआ, इस सम्बन्ध में अब अधिकांश विद्वानों में कोई मतभेद नहीं है।

साहित्य में नाटक को विशेष रूप से रमणीय घोषित किया गया है—"काव्येषु नाटकं रम्यम्"। नाटक के सम्बन्ध में भवभूति ने कहा है कि वह भिन्न रुचि के लोगों को समाधान करने का एकमात्र साधन है। नाटक में किसी एक घटना को थोड़े समय में अधिक तीव्रता के साथ प्रकट करके दर्शकों के मन पर एक विशेष प्रभाव डाला जा सकता है। यह बात उपन्यास के द्वारा नहीं हो सकती। यदि उपन्यास का क्षेत्र विस्तार और विपुलता है तो नाटक का क्षेत्र गहनता और उत्कटता। इस प्रकार मेरे मतानुसार कथा-विशेष जब अभिनय, प्रदर्शन के साथ प्रत्यक्ष कलात्मक रूप में प्रस्तुत हो तो वह नाट्य कहा जायगा।

इसके साथ ही वह दृश्य एवं श्रव्य होने के कारण रस-निष्पत्ति में समर्थ होकर काव्य-कला की एक प्रधान विद्या के रूप में आदरणीय है।

नाट्य कला के लिए शिल्प कौशल

अब हम यह देखेंगे कि नाट्य कला से हमारा क्या अभिप्राय है। नाट्य-लेखन के निमित्त निर्मित सिद्धांत को ही नाट्य-कला कहते हैं। सफल नाट्य-रचना के लिए केवल अभ्यास और प्रतिभा की ही नहीं, परन्तु सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और सूझबूझ की आवश्यकता भी होती है। कविता लिखने के लिए छन्द का समुचित ज्ञान जितना अनिवार्य है, नाट्य रचना के लिए नाट्य कला की, उसके शिल्पकौशल की अवगति भी कम आवश्यक नहीं है। चमत्कारपूर्ण कथोपकथन के माध्यम से किसी अद्भुत चरित्र की सृष्टि अथवा किसी रोचक विषय का प्रतिपादन ही नाटक नहीं है, नाटक में नाटकत्व के समावेश के लिए कुछ विशिष्ट तत्वों, एक सुनियोजित व्यवस्थित रचना-प्रणाली की आवश्यकता पड़ती है। नाट्य कला से परिचय प्राप्त करना नाट्यकार के लिए तो अपरिहार्य है ही, नाट्य-दर्शक के लिए भी कम उपयोगी नहीं है, क्योंकि नाट्य कला के मूल सिद्धांतों से थोड़ा-बहुत परिचित हुए बिना किसी कलात्मक नाटक का संपूर्ण सौन्दर्य उस पर उद्घाटित नहीं हो पाता।

नाट्य कला पर उपलब्ध होने वाले केवल भारत के नही, किन्तु समस्त संसार के प्राचीन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है--"नाट्य-शास्त्र", जिसके प्रणेता हैं आचार्य भरत। यद्यपि पाणिनि के व्याकरण में नाट्य-शास्त्रज्ञ के रूप में कृशाश्व और शिलालिन के नाम आये हैं, किन्तु चूंकि उनकी कोई कृति हमें प्राप्त नहीं है, इसलिए उनके विषय में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन "नाट्य शास्त्र" में जितनी परिपक्वता, सूक्ष्मता और व्यापकता के साथ नाटक के व्यावहारिक और सैद्धांतिक दोनों पक्षों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे यंह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वह इस दिशा में आदि प्रयास नहीं हो सकता। उसके पीछे नाट्य-विवेचन की एक पर्याप्त प्रौढ़ और व्यवस्थित परम्परा अवश्य रही होगी।

आचार्य भरत ने नाटक के लिए रूपक शब्द का व्यवहार किया है। कारण यह है कि नाटक की मूल प्रवृत्ति है--अनुकरण। उसमें अभिनय करने वाले पात्र किसी अन्य व्यक्ति का रूप धारण कर दर्शक के सम्मुख आते हैं।

उसे रूपक और उपरूपक दो विभागों में वर्गीकृत कर आचार्य भरत ने रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद बताये हैं--उनके मतानुसार नाटक के तीन प्रधान तत्व हैं--वस्तु (कथा), नेता (नाटक का नायक) और रस।

वस्तु के दो प्रकार हैं--"मुख्य" और "प्रासंगिक"। "बीज" और "कार्य" वस्तु की दो सीमाएँ हैं। प्रारंभ और परिणति के मध्य संघर्ष के तीन सोपान हैं:--"बिन्दु", "पताका" और "प्रकरी"। "बिन्दु" में बीज अंकुरित रूप में लक्षित होता है और बिन्दु नाटक में क्रम की व्यवस्था बनाये रखने के निमित्त अन्त तक विद्यमान रहता है। "पताका" और "प्रकरी" मुख्य कथा के अन्तर्गत बड़ी और छोटी कथाएँ हैं। "अर्थ प्रकृति" वस्तु के इन्हीं विभागों का नाम है। इसी प्रकार वस्तु की नाटकीय गति को भी—पाँच विभागों में बाँटा गया है—"आरम्भ", "प्रयत्न", "प्राप्त्याशा", "नियताप्ति" और "फलागम"। एक विभाग की समाप्ति और दूसरे विभाग के प्रारम्भ के सन्धि-स्थल को ही "संधि" की संज्ञा दी गयी है। सधियों की संख्या पाँच है—"मुख", "प्रतिमुख" "गर्भ", "अवमर्श" तथा "उपसंहृत" या "निर्वहण"। मुख्य संधि के १२, प्रतिमुख, गर्भ तथा अवमर्श के १३ और उपसंहृति अथवा निर्वहण के १४ अंग निर्धारित किये गये हैं। इनका प्रयोग करने के निमित्त हैं—छः—"इष्टार्थ", "गोप्य गोपनार्थ", "प्रकाशनार्थ", "कागार्थ", "आश्चर्यार्थ" और "वृत्तन्तार्थ"। वस्तु के दो उप विभाग हैं (१) रंगमंच पर अभिनय के द्वारा प्रस्तुतीकरण के योग्य घटनाएँ तथा (२) सूच्य अथवा वे घटनाएँ जिनका केवल संकेतमात्र ही पर्याप्त है।

नेता भरत मुनि के अनुसार चार प्रकार के हो सकते हैं:—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशांत। इन चारों प्रकारों में से वह किसी एक का भी हो सकता है।

इसके बाद वृत्तियों अर्थात् कार्य करने की पद्धतियों का वर्णन किया गया है। वृत्तियों प्रकार हैं—"भारती", 'कौशिकी", 'सात्वती" और "आरभरी"। प्रत्येक वृत्ति के चार अंग हैं और अनेक उपांग। यह सारा कार्य नाटक के पात्र "आंगिक" अर्थात् अभिनय, "वाचिक" अर्थात् कथोपकथन, "महार्य" अर्थात् वेशभूषा और "सात्विक" अर्थात् हास्य, रुदन आदि द्वारा करते हैं। कथोपकथन की तीन शैलियाँ हैं—"श्रव्य" (सबके सुनने के लिए), "अश्रव्य"

(स्वगत, अंग्रेजी में इसी को "सोलीलॉकी" कहते हैं) और "नियत श्रव्य" (जिसे कुछ पात्र तो सुन सकते हैं कुछ नहीं, अंग्रेजी में इसे "एसाइड" कहते हैं)। नियत श्रव्य के दो भेद हैं—१-"अपवारित" और २-"जनान्तिक"। अपवारित छिपी हुई बात को और जनान्तिक दो पात्रों के गुप्त संभाषण को कहते हैं।

इसके उपरान्त रसों की विशद व्याख्या सविस्तार प्रस्तुत की गयी है। यह तो सर्वविदित ही है कि नौ स्थायी भावों के आधार पर रसों की संख्या भारतीय साहित्यिज्ञों द्वारा नौ निर्धारित की गयी है। काव्य के इस रसास्वादन का आनंद भरत मुनि ने ब्रह्मानद का सहोदर माना है। अन्य रसों की सामग्री जुटाने की अपेक्षा हास्यरस की सामग्री का ठीक ढग से जुटाना सदा कठिन रहता है और नाटकों में हास्य रस की सदा ही प्रधानता रही है। हास्य रस की उत्पत्ति के लिए प्राचीन संस्कृत नाटकों में विदूषक प्रायः हर नाटक में रखा जाता था। पारसी नाटक कम्पनियाँ नाटक के साथ हास्य रस की एक "नकल" ही किया करती थीं चाहे वह नकल प्रायः भद्दी और अश्लील ही क्यों न हो।

हास्य-रस नाटक का एक आवश्यक गुण है, किन्तु सभी नाटकों में यह नहीं रखा जा सकता। किसी-किसी नाटक में हास्य-रस रखने से उसके रस-परिपाक में बड़ी बाधा पहुँचती है; यहाँ तक कि कभी-कभी तो बड़ी बुरी तरह रस-भंग हो जाता है। परंतु यह यहाँ न समझ लिया जाय कि दुःखान्त नाटकों में हास्य-रस नहीं रखा जा सकता। अनेक दुःखान्त नाटकों में भी यह सफलतापूर्वक रखा जा सकता है। हास्य की उत्पत्ति किन कारणों से होती है इसकी चर्चा पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों साहित्यकारों एवं मनोविज्ञान के ज्ञाताओं ने खूब की है, जिसका अध्ययन प्रत्येक नाटककार के लिए आवश्यक है। मैं यहाँ इस विषय का कोई विस्तृत विवेचन नहीं करना चाहता, फिर भी नाटकों में किस प्रकार के हास्य-रस रखने का मैं पक्षपाती हूँ और कौन-सा हास्य-रस मैं सर्वथा निषिद्ध समझता हूँ इस पर संक्षेप से कुछ कह देना चाहता हूँ।

हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत वस्तु के देखने अथवा सुनने से होती है, यद्यपि सभी असाधारण या विकृत वस्तुओं के देखने या सुनने से हास्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। प्रधानतया जिन बातों से हास्य की उत्पत्ति होती है वे हैं—

१—असाधारण या विकृत रूप।
२— ,, ,, वेश।
३— ,, ,, संकेत।
४— ,, ,, चरित्र।
५— ,, ,, परिस्थिति।
६— ,, ,, शब्द और वाक्य।

इनमें से १, २, ३ और ४ से जिस हास्य की उत्पत्ति होती है वह साधारण कोटि का है। मन पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। पाँचवें और छठवें प्रकार का हास्य उच्चकोटि का है और मन पर इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

सबसे अधिक ध्यान हमें अन्तिम प्रकार के हास्य पर देना चाहिए। जिन शब्दों या वाक्यों से इस हास्य की उत्पत्ति है उन्हें हमारे यहाँ "व्यंग" कहते हैं। पश्चिमी साहित्यकारों ने इस व्यंग के भेद कर इसे तीन मोटे विभागों में बाँटा है—"सेटायर", "विट" और "ह्यूमर"। हास्य रस में तीनों का बड़ी सुन्दरता के साथ उपयोग किया जा सकता है। अनेक बार उपर्युक्त छहों प्रकार के हास्य का इकट्ठा उपयोग कर एक विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

हास्य रस के मेरे इस संक्षिप्त विवेचन को एक प्रकार का क्षेपक मान यहाँ प्रधानतया भरतमुनि के नाटक लिखने की पद्धति (टैकनीक) की ओर ध्यान दीजिए। यथार्थ में उनके मतों का विवेचन इस अल्प समय में करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। नाटककारों को भरतमुनि के ग्रन्थ का मनन आज भी आवश्यक है। परन्तु मैं एक बात और भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि समय में महान् परिवर्तन हो जाने के कारण यदि आज कोई नाटककार केवल इस प्राचीन भारतीय पद्धति का आश्रय लेकर नाटक रचना करेगा तो वह सफल नहीं हो सकता। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। बाबू साहब अपने एक निबन्ध में लिखते हैं—

"नाट्य कला कौशल दिखाने को देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असंभव कार्य की

अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इस से अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोचन', कहीं 'संफेट' कहीं 'पंच संधि' आदि ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, या किसी नाटकाँग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।"

मैं भारतेन्दुजी से बहुत दूर तक सहमत हूँ, फिर भी मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि प्राचीन पद्धति के मनन से आधुनिक काल में भी श्रेष्ठ नाटक के प्रणयन में बहुत सहायता मिलती है।

भरतमुनि के समकक्ष हैं यूनान के आद्याचार्य अरस्तू, जिनके साहित्य शास्त्र से सम्बद्ध दो ग्रन्थ हैं—(१)भाषणशास्त्र (तेखनेसरितोरिकेस) और (२) काव्य-शास्त्र (तेरिपोइतिकेस)। उन्होंने अपनी आलोचना मुख्यतः त्रासदी तक ही सीमित रखी है। "पेरिपोइतिकेस" में त्रासदी की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं—"त्रासदी किसी गम्भीर, स्वतः पूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है।" त्रासदी के प्रमुख तत्वों का निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है—"त्रासदी के अनिवार्यतः ६ अंग होते हैं—कथानक, चरित्र-चित्रण, पद-रचना, विचार तत्व, दृश्य विधान और गीत।" सर्वाधिक बल उन्होंने नेता (हीरो), कथानक (प्लाट) और रस (इमोशन) पर ही दिया है।

प्लाट (कथा) के संबंध में अरस्तू ने लिखा है—

"नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस कारण नाटक का अन्तिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अन्तिम ध्येय यही

महत्त्व की बात है ।"

हीरो (नेता) के सम्बन्ध में अरस्तू ने लिखा है—

"वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो अत्यन्त नामांकित तथा समृद्धिशाली हो।"

अरस्तू का नेता भरतमुनि के नेता से बहुत कुछ मिलता-जुलता है ।

अरस्तू ने भी नाटक का कार्य इमोशन (रस) का प्रादुर्भाव माना है। यह उसके निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"ट्रेजिडी से 'emotion of pity and terror' अर्थात् करुण और भयानक रस की तथा कामेडी से 'emotion of laughter' अर्थात् हास्य रस की उत्पत्ति होनी चाहिए।" परन्तु फिर भी अरस्तू ने सबसे अधिक महत्त्व कथा को ही दिया है । अरस्तू तो यहाँ तक कहते हैं—

"बिना कार्य-व्यापार के त्रासदी नहीं हो सकती, बिना चरित्र-चित्रण के हो सकती है। नाट्य व्यापार का उद्देश्य चरित्र का अभिव्यंजन नहीं होता, चरित्र तो गौण रूप में आ जाता है।"

अरस्तू की इस मान्यता से आज के अनेक नाटककार सहमत नहीं हो सकेंगे। चरित्र-चित्रण आज के नाटक का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है और घटनाओं का संयोजन भी इसी दृष्टि से किया जाता है कि वे अभिप्रेत चरित्र को उद्घाटित करती चलें। इसका एक विनम्र उदाहरण मेरे कुछ जीवनी नाटक हैं—"रहीम", "भारतेन्दु", 'महात्मा गान्धी" । इनमे मैंने घटनाओं को महत्त्व न देकर चरित्र-चित्रण पर ही अपनी पूरी शक्ति केन्द्रित की है। कहा जाता है कि हिन्दी में सबसे पहले नाटक जिनमें नायक की पूरी जीवनी आजाय ये ही हैं।

चारित्र्य को अरस्तू दूसरा और विचार को तीसरा स्थान प्रदान करते हैं। चौथा तत्त्व वे पदावली को मानते हैं। पदावली से उनका तात्पर्य है—"शब्दों द्वारा अर्थ का अभिव्यक्ति।" इसे हम नाट्यशिल्प की सज्ञा भी दे सकते हैं। दृश्य-विधान तथा अभिनेताओं को वे अत्यन्त गौण स्थान देते हैं। उनका

मत है कि "दृश्य विधान और अभिनेताओं (अभिनय) से स्वतन्त्र त्रासदी के प्रबल प्रभाव की अनुभूति होती है। रग प्रभाव उत्पन्न करना कवि की अपेक्षा शिल्पी की कला पर अधिक निर्भर करता है।" यहाँ भी अनेक नाट्य प्रेमियों को आपत्ति हो सकती है। आज नाटक को यन्त्र से अलग करके नहीं देखा जाता। आजकल नाटक के लिए अभिनेयता का गुण प्रायः अनिवार्य माना जाता है। मेरा भी विश्वास यही है कि नाटक को थोड़ा बहुत अभिनेय तो होना ही चाहिए। यद्यपि यहाँ पर यह शंका उठायी जा सकती है कि हम किस नाटक को अभिनय के योग्य मानें और किस को अयोग्य, क्योंकि एक नाटक मंडली जो नाटक नहीं खेल सकती, वही नाटक किसी प्रौढ़तर मडली द्वारा सुगमता पूर्वक खेला जा सकता है। पश्चिम में तो ऐसे-ऐसे नाटक रोजमर्रा खेले जाते हैं जो भारतीय रंगमंच को देखते हुए सर्वथा अनभिनेय लगते हैं। पश्चिम के इस प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन मैंने स्वयं देखा है।

आचार्य भरत और अरस्तू के नाट्य रचना विषयक इन विचारों के प्रस्तुत करने में मेरा यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि इन आचार्यों द्वारा निर्धारित रूढ़ियों का अंध अनुसरण किया जाना चाहिए। आधुनिक नाट्य कला विकास के बहुत ही ऊँचे सोपान पर पहुँच चुकी है और उसे पीछे की ओर घसीटने की कोशिश करना निरर्थक है। यह विवेचन तो इसलिए उपस्थित किया गया है ताकि इन दोनों आचार्यों की नाट्य-मीमांसा में उपलब्ध होने वाले उपयोगी सूत्रों से लाभ उठाया जा सके। मैंने पहले भी यह संकेत किया है।

भरत मुनि के पश्चात् नाट्यकला संबंधी भारत में धनंजय का "दश रूपक" महत्त्व का ग्रन्थ है और पश्चिम में अरस्तू के उपरान्त होरेस का "नाट्यालोचन" प्रामाणिक और वैज्ञानिक ग्रन्थ माना जाता रहा है। होरेस पाश्चात्य चिन्तन धारा को एक लम्बी अवधि तक प्रभावित किये रहे। होरेस ने नाट्य-लेखन के लिए शास्त्र-सम्मत नियमों के पालन का कठोर विधान किया। इस विषय में नाटककार को उपदेश देते हुए वे लिखते हैं—"किसी भी नाटक में, जिसकी माँग हो और जिसकी पुनरावृत्ति होनी हो, पाँच अंक होने चाहिए, न इससे अधिक और न इससे कम।" यह नियम आजकल के नाटककारों पर लागू कर पाना न तो संभव ही है और न आवश्यक एवं उपयोगी। आजकल नाटक दस-दस अंकों में भी लिखे जा रहे हैं तथा एक अंक में भी और उनकी सफलता अथवा असफलता का मूल्यांकन भी इस आधार पर कोई नहीं करता। इसी

प्रकार होरेस के कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं।

इन पूर्वी और पश्चिमी आचार्यों के सिद्धान्तों की व्याख्या "नाट्य शास्त्र" वाले भाषण में अधिक की जायगी। यहाँ प्रधानतया उन्हीं बातों की चर्चा की गयी है जिनसे नाट्यकला का अधिक संबंध है, यद्यपि नाट्यकला और नाट्य-शास्त्र का पूर्ण विभेद संभव नहीं है।

नाटक में समस्या तथा अन्य बातें

नाट्य कला की भूमिका और उससे सम्बद्ध प्रसिद्ध आचार्यों के विचार प्रस्तुत करने के उपरान्त मैं समझता हूँ कि अब हम नाटक के विभिन्न अवयवों को सुविधापूर्वक समझ सकेंगे। जैसा कि मैंने पहले भी उल्लेख किया है, आचार्य अरस्तू ने कथानक को ही सर्वाधिक मौलिक और महत्वपूर्ण अंग माना है। किन्तु मुझे लगता है कि नाटक के लिए सबसे अधिक बुनियादी और आवश्यक वस्तु है समस्या। मेरे इस मत का यह अर्थ कदापि नहीं है कि नाटक केवल एक ही प्रकार का होता है और वह प्रकार है समस्या नाटक। नाटक के और भी कई स्वरूप हो सकते हैं, किन्तु सफल नाट्य-रचना के लिए मुख्य अथवा गौण रूप में किसी समस्या का उठाया जाना आवश्यक है। सर्व प्रथम तो मैं समस्या नाटकों का अलग वर्ग बनाये जाने के ही विरुद्ध हूँ। यह वर्गीकरण प्रायः उतना ही निरर्थक है जितना मनोवैज्ञानिक कहानियों का। किस कहानी में मनोविज्ञान नहीं होता और कौन सा नाटक सर्वथा समस्याविहीन होता है? यह और बात है कि सामाजिक नाटकों में किसी सामाजिक समस्या का निरूपण होता है और राजनीतिक नाटकों में राजनीतिक। समस्या अथवा किसी विवादास्पद विचार के बिना नाटक चल ही नहीं सकता।

समस्या की अभिव्यक्ति के लिए कथा का ताना-बाना बुना जाता है। कथा का नाटक में दूसरा स्थान है। कथा का विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह समस्या के विविध पक्षों को उद्घाटित करती चले और अन्त में चाहे उसका कोई समाधान प्रस्तुत करे अथवा न करे।

तीसरा स्थान नाटक में चरित्र-चित्रण का है। चरित्र-चित्रण के लिए संघर्ष अनिवार्य है। संघर्ष द्विमुखी होना चाहिए—वाह्य भी और आंतरिक भी। वाह्य संघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति

के साथ समाज अथवा राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्रीवर्ग का या अन्य भी अनेक प्रकार का हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसे वाह्य संघर्ष से अधिक महत्व प्राप्त है। यह संघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है। यहीं नाटक में मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

नाटक का लक्ष्य है रसोत्पत्ति और माध्यम है कथोपकथन।

कार्य व्यापार

अब मैं नाटक के विविध अवयवों की कुछ विस्तार से चर्चा करूंगा। सबसे पहले कार्य व्यापार को लें। जैसा कि मैंने पहले इंगित किया है कार्य व्यापार का द्वन्द्व-प्रधान होना अत्यन्त आवश्यक है। उसकी उपयोगिता यही है कि वह समस्या के विभिन्न स्वरूपों को विस्फोटक रूप में दर्शकों के सम्मुख उद्घाटित करता चले। आरम्भिक धार्मिक नाटकों में भी द्वन्द्व का ही निरूपण किया जाता था। यह द्वन्द्व सद् और असद् शक्तियों के बीच होता था, जिसमें सदाचार की विजय और दुराचार की पराजय दिखायी जाती थी। आधुनिक उपदेशात्मक नाटकों का कथानक अब भी प्रायः यही होता है। किन्तु इस प्रकार के स्थूल द्वन्द्व दर्शक अथवा पाठक को अब आकर्षित नहीं कर पाते। अब वह नाटककार से कुछ सूक्ष्मतर, कुछ जटिलतर द्वन्द्वों की अपेक्षा करता है। यह द्वन्द्व अथवा सघर्ष मानसिक भी होना चाहिए और शारीरिक भी। शारीरिक से मेरा अभिप्राय वाह्य संघर्ष से है। इसी का चित्रण करने के लिए नाटक में घटनाओं का समावेश किया जाता है। सर्वथा घटना-विहीन नाटक किंचित अरोचक हो जाने के कारण दर्शकों को उबा देता है और वे या तो अपने-अपने आसनों पर ऊँघने लगते हैं या उठकर बाहर चले जाते हैं। संघर्ष और घटनाओं के अभाव में न तो नाटक में गति आ पाती है और न ही रहस्यात्मकता (सस्पेन्स)। दर्शक का कुतूहल और उसकी रुचि नाटक में बनाये रखने में घटनाओं का गहरा हाथ होता है। नाटक में कुछ चमत्कारपूर्ण अप्रत्याशित घटनाओं का समावेश भी रहना चाहिए जिससे उसमें नाटकीयता आ सके। चमत्कारपूर्ण घटनाओं से मेरा अभिप्राय अलौकिक अथवा असंभव घटनाओं से नहीं है, कथानक यथासंभव यथार्थपूर्ण होना चाहिए अन्यथा उसमें संभाव्यता तो होनी ही चाहिए। नाटक का उद्घाटन किसी नाटकीय घटना अथवा परिस्थिति से हो तो अधिक उपयुक्त है, ताकि प्रारम्भ में ही वह अपने

में दर्शक की रुचि जागृत कर सके। फिर उसे तीव्र गति से चरमबिन्दु की ओर बढ़ना चाहिए। क्रमिक विकास में शिथिलता नहीं होनी चाहिए। चरमबिन्दु पर पहुँचकर नाटक को समाप्त होजाना चाहिए। मैं नाटक में उतार (एंटी क्लाइमेक्स) का पक्षपाती नहीं हूँ। कथासूत्र में गठन और शृंखला होना अनिवार्य है। शास्त्र सम्मत पंच संधियों का चाहे उसी रूप में निर्वाह न किया जाय, किन्तु वे कथानक रचना का स्वरूप समझने में काफी सहायता दे सकती हैं।

मैं नाटक के पात्रों की चर्चा करूंगा। पात्र-चयन के सम्बन्ध में यह प्रश्न अनिवार्यतः उठता है कि नाटक के लिए चुने जाने वालों का स्वरूप और प्रकृति क्या हो? क्या वे इतिहासप्रसिद्ध महापुरुष ही हो सकते हैं, या अत्यन्त सामान्य व्यक्ति भी किसी नाटक का नायक बनने की योग्यता रखता है? नाटक के पात्र-चयन के विषय में निर्देश करते हुए होरेस ने लिखा है—"देवताओं को उस (नाटक) में तब तक न होना चाहिए, जब तक कोई ऐसी कठिनाई न उपस्थित हो जाय, जिसे दूर करने के लिए उन्हें स्थान देना अनिवार्य हो।" मैं इस उक्ति से सहमत हूँ। नाटक के नायक के विषय में मेरी अवधारणा यह है कि उसे व्यक्ति न होकर "टाइप" होना चाहिए। उसे प्रतिनिधित्व करना चाहिए किसी विचारधारा वर्ग अथवा जीवन-दर्शन का। तभी उसमें सामर्थ्य और शक्ति आ सकती है।

नायक के विषय में होरेस की उक्ति है कि उसका चरित्र अपरिवर्तनीय होना चाहिए। जैसा वह प्रारम्भ में निरूपित किया जाय, अन्त तक उसका रूप वैसा ही रहना चाहिए। मैं इस मान्यता से पूर्णतः सहमत हो सकने में स्वयं को असमर्थ पाता हूँ। विभिन्न शक्तिमयी परिस्थितियों से प्रतिक्रियान्वित होकर उसके चरित्र में अत्यल्प ही नहीं, महान् परिवर्तन भी हो सकता है। कल्पना कीजिए कि किसी नाटक का नायक कुख्यात डाकू अंगुलीमाल है। स्पष्ट ही है कि प्रारम्भिक दृश्यों में वह नृशंस व्यक्ति के रूप में चित्रित किया जायगा, किन्तु तथागत के संसर्ग में आने पर उसके जीवन की दिशा ही बदल जाती है और वह एक विनम्र सज्जन पुरुष बन जाता है। तो क्या उस नाटक में इस परिवर्तित अंगुलीमाल के लिए कोई जगह न होगी? यह तो ठीक है कि सामान्यतः नायक की मूल प्रवृत्ति में अन्तर नहीं आना चाहिए, किन्तु इस क्षेत्र में अपवाद

भी हो सकते हैं। मनोवैज्ञानिक नाटकों में तो इस नियम के पालन किये जाने की संभावना और भी कम है, क्योंकि उनमें अकसर चरित्र-परिवर्तन की घटनाएँ निरूपित की जाती रही हैं।

चरित्र-चित्रण

अब मैं चरित्र-चित्रण के प्रश्न को उठाऊँगा। चरित्र-चित्रण के प्रसंग में अरस्तू का निर्देश इस प्रकार है—"चरित्र के विषय में चार बातों पर ध्यान रखना चाहिए। पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भद्र हो।...... दूसरी बात ध्यान रखने की है औचित्य। पुरुष में एक विशेष प्रकार का शौर्य होता है, परन्तु नारी चरित्र में शौर्य (नैतिक विवेकशून्य) चातुर्य का समावेश अनुचित होगा। तीसरे चरित्र जीवन के अनुकूल होना चाहिए। चौथी बात यह है कि चरित्र में एकरूपता होनी चहिए।" साहित्य में चरित्र-चित्रण की प्रायः तीन प्रणालियाँ प्रचलित हैं। पहली प्रणाली में तो लेखक स्वयं पात्र का चरित्र अंकित करता है; जैसे उपन्यास, कहानी तथा रेखाचित्र में। चरित्र-चित्रण की दूसरी प्रणाली है कथोपकथन के माध्यम से। यह विशेष रूप से नाटक में प्रयुक्त होती है। किन्तु इसके अतिरिक्त चरित्र-चित्रण की एक अन्य और सूक्ष्मतर और अधिक कलात्मक प्रणाली भी है, वह है परिस्थितियों के माध्यम से। इस प्रणाली में लेखक न तो स्वयं पात्र के बारे में कुछ कहता है, न ही किसी अन्य पात्र से कुछ कहलवाता है, वरन् वह पात्र को ऐसी परिस्थितियों के सामने रखता है, जिनके प्रति उसकी प्रतिक्रिया उसके चरित्र का उद्घाटन कर देती है। कुशल लेखक इसी पद्धति का प्रयोग करते हैं। इस पद्धति से नाटक में सौन्दर्य तो आता ही है, उसमें मनोविज्ञान का भी समावेश हो जाता है।

कथोपकथन

जहाँ तक कथोपकथन का प्रश्न है, उसके विषय में मेरा सर्वप्रथम निवेदन तो यह है कि उसे अधिकाधिक स्वाभाविक और पात्रानुकूल होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आदेश देते हुए होरेस कहते हैं—"यदि किसी का कथन उसकी मनःस्थिति के अनुकूलन नहीं है, तो सभी वर्गों के व्यक्ति उसका उपहास करेंगे। वक्ता देवता है या अर्धदेवता, वयोवृद्ध है या तरुण, धनिक महिला है या चंचल परिचारिका, पर्यटक व्यवसायी है या कृषक, कोतिबयन है या असीरियन, सब की वार्ता का अलग-अलग ढंग होता है।" यहाँ एक गंभीर समस्या यह उठती है कि हिन्दी नाटकों में किसी पात्र से हिन्दीतर भाषा

का प्रयोग कराना कहाँ तक उचित है तथा विभिन्न जनपदीय भाषाओं का प्रयोग कहाँ तक उपयुक्त है ? नौकर चाकर, धोबी, माली आदि पात्र अपनी ही भाषा में बोलें अथवा शुद्ध खड़ी बोली में ? मैं समझता हूँ कि उनका शुद्ध खड़ी बोली में बोलना अस्वाभाविक होगा । ठीक इसी तरह किसी मुगल बादशाह अथवा सामान्य मुसलमान से भी हम संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रयोग नहीं करा सकते । उसकी वार्ता में फारसी और उर्दू शब्दों का समावेश ही अधिक स्वाभाविक होगा । हाँ, यह वांछनीय है कि हम ऐसे उर्दू शब्दों का चयन करें, जिन्हें हिन्दी वाले भी सुविधापूर्वक समझ सकें । संस्कृत नाटकों में भाषा प्राय: पात्रों के अनुसार चलती है । कितने पात्र कितने प्रकार की प्राकृत में बोलते हैं ।

प्राय: यह कहा जाता है कि नाटक के वार्तालाप संक्षिप्त होने चाहिए । मैं इस उक्ति की केवल आंशिक सत्यता को स्वीकार करता हूँ । यह तो परिस्थिति सापेक्ष है । कल्पना कीजिए कि किसी नाटक में एक नेता को जनता के सामने भाषण देना है, यदि वह दो-चार वाक्य कहकर ही अपना वक्तव्य समाप्त कर देगा, तो क्या यह अस्वाभाविक नहीं लगेगा ? वहाँ तो उसका अच्छा खासा लम्बा भाषण देना ही उपयुक्त होगा ।

स्वगत भाषण

अब मैं नाटक में स्वगत कथन की समस्या को उठाऊँगा । इब्सन सरीखे कुछ आधुनिक नाट्य शास्त्रज्ञों ने स्वगत कथन को नाटक के लिए नितान्त अनुचित और अवास्तविक घोषित किया है । स्वगत कथन जैसा पहले कहा गया है दो प्रकार के होते हैं––एक वे जिन्हें बोलते समय मंच पर केवल वह वक्ता ही रहता है । इसे संस्कृत में अश्राव्य और अंग्रेजी में सॉलीलॉकी कहते हैं । दूसरा नियत श्राव्य एसाइड । इसे बोलते समय मंच पर अन्य पात्र भी रहते हैं । नियत श्राव्य या एसाइड की अस्वाभाविकता और अवैज्ञानिकता से इंकार कर पाना सरल नहीं है । किन्तु मैं अश्राव्य सालीलाकी के विरुद्ध नहीं हूँ । अन्तर्द्वंद्व के चित्रण के लिए इस प्रकार के स्वगत संभाषण की प्रणाली का प्रयोग अपरिहार्य है । यदि किसी एकांत क्षण मे पात्र अपने किसी पालतू पशु-पक्षी से या किसी चित्र से बात करते हुए अपना मानसिक द्वंद्व अभिव्यक्त करे तो स्वाभाविक ही होगा । यदि ऐसे स्वगत संभाषण को हम सर्वथा अस्वाभाविक मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि एकपात्री नाटकों की कोई स्थिति तथा आवश्यकता नहीं है ।

संगीत और नृत्य

इब्सन ने नाटक से संगीत और नृत्य का बहिष्कार करने का भी आदेश दिया है, जो पूर्णतः अस्वाभाविक है। सावन का मौसम हो, हलकी-हलकी बूंदें पड़ रही हों, ऐसे में अगर झूला झूलते हुए कोई गाये अथवा कविता गुनगुनाये, उषःकाल या संध्या अथवा चाँदनी के दृश्यों से प्रेरित होकर कोई गाये तो इससे नाटक में रागात्मकता ही उत्पन्न होगी, कलात्मकता की क्षति तो कदापि नहीं हो सकती। हाँ, पारसी नाटक कम्पनियों के नाटक में जिस प्रकार सभी पात्र समस्त अवसरों पर गाते रहते थे वह एकदम अस्वाभाविक है। राजा गाता था, रानी गाती थी, सेनापति गाता था। जीवित व्यक्ति जब मरने लगता था, तब भी वह गाता था। पारसी नाटक कम्पनियों के हरिश्चन्द्र नाटक को मैंने बाल्यावस्था में देखा था। उसका एक दृश्य मैं अभी भी नहीं भूल पाता हूँ। रोहिताश्व को जब साँप ने डसा और वह मरने लगा, तब उसने गाना आरम्भ किया—

> साँप ने मुझको आ डसा
> हाय गज़ब गज़ब सितम,
> प्यारा तिहारा चल बसा
> हाय गज़ब गज़ब सितम।

दुःखान्त नाटक

हमारे यहाँ दुःखान्त नाटक लिखने की परम्परा अत्यन्त क्षीण रही है। संस्कृत में तो त्रासदियों का अभाव ही है, जबकि यूनान, रोम आदि देशों में त्रासदी का ही बोलबाला रहा है। क्या इससे यह सिद्ध होता है कि हम नाटकों में जीवन के समग्र रूप के पक्षधर नहीं रहे हैं? इस विषय में मेरा अनुभव यह है कि नाटक को दुःखान्त न बनाते हुए भी उसे सम्पूर्ण जीवन का प्रतिबिम्बक बनाया जा सकता है। भारत के कुशल नाटककार दुःखात्मक अनुभूतियों को भी फूलों की तरह गूंथते हुए चले हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि हम जीवन के प्रति आस्थापूर्ण, विश्वासशील और आशावादी रहे हैं। हमारी मान्यता है कि एक व्यक्ति भले ही हार जाय, किन्तु पूरी मानवता पराजित हो नहीं सकती। इसलिए पराजय में, सर्वनाश में किसी नाटक का पर्यवसान हमारे यहाँ वांछनीय नहीं माना गया है। यह एक प्रकार से साहित्य में आदर्शवाद की स्वीकृति है।

अरस्तू ने श्रेष्ठ नाटक के लिए गांभीर्य-प्रधान दुःखान्त को प्रधानता दी

है। इस प्रकार दुःखान्त नाटक की विशेषताओं के संबंध में अरस्तू ने कार्य के अनुकरण की प्रधानता, गम्भीरता, स्वयं में पूर्णता, आलंकारिक भाषा, वर्णन के स्थान पर अभिनय की प्रधानता तथा करुणा एवं भय से सम्पन्नता आदि बताया है। लेकिन मेरे मतानुसार अरस्तू का यह अभिकथन विशुद्ध एकपक्षीय है। हमारे भारतीय साहित्य मे आनन्द की प्राप्ति के लिए रसों को विशेष महत्व दिया गया है। साथ ही नव-रस की निष्पत्ति को भी काव्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन रूप में रखा है। यह भी ज्ञातव्य है कि रसों के उद्रेक के निमित्त मानवीय वृत्तियाँ, मनोविकार, अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करती हैं। वास्तव में मनोविकार ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में सहायक होते हैं। अरस्तू की करुणा और गाम्भीर्य जब नाटक के साध्य बन जाते हैं और वे अन्त में विजेता रूप में दर्शकों पर प्रभाव डालते हैं तो वे रचनात्मक न होकर जन-जीवन को पथ-भ्रष्ट करने में समर्थ हो जाते हैं। वास्तव में करुणा और कथा की गम्भीरता कौतूहल (Suspense) की वृद्धि में सहायक होकर प्रस्तुत हो तो अधिक उपयोगी हो सकते हैं। जीवन में आशावाद का संचार करने के लिए आनंद की सृष्टि होनी चाहिए और आशा के बिंदु तक पहुँचने के लिए दुःखपूर्ण, संघर्षपूर्ण, गम्भीर वातावरण एवं प्रधान घटनाओं का भी समावेश होना चाहिए। साहित्य की रचनात्मक उपलब्धि आनन्द ही है। परन्तु, दुःखान्त नाटक न लिखे जायँ, मैं इस मत का भी नहीं हूँ।

नाटक में कितने काल की कथा आ सकती है

नाटक में कितने काल तक की कथा ली जा सकती है इस संबध में अनेक मत हैं। यूनान में निश्चय हुआ था कि आदि से अंत तक सारा नाटक इस प्रकार रचा जाना चाहिए जिससे वह एक ही दिन की घटना तक परिमित रहे, साथ ही किसी एक ही स्थान में हो रहा है ऐसा मालूम हो और वह एक ही कृत्य के संबंध में भी हो। इसे वहाँ के साहित्यिकों ने "संकलन त्रय" या "समक" नाम दिया था। अब यह बात कहीं प्रचलित नहीं रही और विद्वानों ने यह मान भी लिया कि नाट्य कला के विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त दूषित है। हाँ, यूरोप में फ्रान्स के कुछ नाटककार अभी भी इस सिद्धान्त के अनुसार अपनी रचनाएँ करते हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में साहित्यिकों में अभी अनेक मत हैं।

हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी ने अपने

"साहित्यालोचन" ग्रंथ में इस संबंध में लिखा है—"साधारणतः नाटकों में दो-चार वर्ष की घटनाएँ सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-संबंधी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता है। वह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पाये और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में कितना समय बीता है।" श्यामसुन्दरदास जी के इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ। पहले तो यदि दो, ढाई, चार अथवा पांच घण्टों में होने वाले नाटक में दो-चार वर्ष की घटनाओं का समावेश हो सकता है तो कितने ही दीर्घ काल की घटनाओं का भी हो सकता है। कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" में कितने दीर्घ काल की घटनाएँ आयी हैं। शेक्सपियर का "विन्टर्स टेल" नाटक एक स्थल पर पूरे चौदह वर्ष के पश्चात से आरंभ होता है और बर्नार्ड शा के नाटक "बैक टु मैथ्यूसुला" में तो मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसके अंत तक की काल्पनिक कथा का वर्णन है। फिर इस संबंध में जिस प्रकार के कौशल के प्रयोग का संकेत बाबू श्यामसुन्दरदास जी करते हैं मेरा मत उसके ठीक विपरीत है। मेरा तो मत है कि यदि एक ही नाटक में एक घटना के बाद दूसरी घटना यथेष्ट समय के पश्चात आरंभ होती है, तो उस घटना के आरंभ में ही दर्शकों को नाटक के पात्रों द्वारा ही यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि इतने समय के पश्चात् से नाटक का आरंभ होता है, साथ ही यह बात इस कौशल से बतायी जानी चाहिए कि दर्शकों को यह भी न जान पड़े कि यह पात्र, यह भाषण इसीलिए कर रहा है कि दर्शकों को यह मालूम हो जाय कि नाटक की घटनाएँ अब इतने समय के बाद आरंभ होती हैं।

उत्तम और सफल नाटक की कसौटी

पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मतों का संमिश्रण करें यदि हम उसका निचोड़ निकालें तो मेरे मतानुसार, उत्तम और सफल नाटक में निम्न बातों का होना आवश्यक है—

नाटक में सर्वप्रथम किसी विचार की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहां साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए संघर्ष अनिवार्य है। संघर्ष बाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का आवश्यक है। इस विचार और संघर्ष की संबद्धता और मनोरंजकता के लिए कथा की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं

हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है और चूंकि नाटक की कथा लेखक द्वारा नहीं कही जा सकती इसलिए पात्रों की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं।

जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजन कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।

एकता का वायुमण्डल

इस उत्तमता और सफलता के लिए इन सब अंगों की, एक दूसरे के सग में इस प्रकार की संबद्धता आवश्यक है जिससे सारे नाटक पर "एकता" के वायु-मण्डल की स्थापना हो सके।

पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं के प्राचीन विद्वानों ने इस एकता की स्थापना के लिए अनेक उपाय निकाले थे, जिनमें निम्न मुख्य हैं—

१—नेता की प्रधानता।
२—दैवी पात्रों का समावेश, चाहे वे देवता हों, या भूत-प्रेत।
३—उपकथा पताका या प्रकरी का संमिश्रण।
४—प्राकृतिक वर्णन का आश्रय।

प्राचीनकाल के सभी नाटक धार्मिक या ऐतिहासिक विषयों पर लिखे जाते थे। उनका नेता या तो कोई अवतारी पुरुष या राजा होता था। उसका व्यक्तित्व नाटक के अन्य पात्रों से इतना ऊंचा रहता था कि उसके कारण समस्त नाटक पर एकता की स्थापना में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। अर्वाचीन काल में धार्मिक तथा ऐतिहासिक नाटकों की अपेक्षा सामाजिक नाटक अधिक लिखे जाते हैं। धार्मिक और ऐतिहासिक नाटकों में नेता की अत्यधिक प्रधानता रह सकती है, परंतु सामाजिक नाटकों के सभी पात्र साधारण गृहस्थ होने के कारण तब तक नेता को प्रधानता नहीं मिल सकती जब तक वह किसी विशिष्ट सामाजिक दल का प्रतिनिधि न हो। बिना इसके सामाजिक नाटक में एकता का स्थापित करना बहुत ही कठिन हो जाता है, अतः इस ओर अत्यधिक ध्यान

रखना आवश्यक है। प्राचीन काल का अवतारी पुरुष या राजा भी तो उस समय के समाज का प्रतिनिधि ही होता था। यही उसके महत्त्व का कारण था। उपर्युक्त उपाय से आधुनिक सामाजिक नाटकों के नेता में भी यह महत्त्व लाया जा सकता है।

दैवी पात्रों का समावेश, उन नाटकों को छोड़कर जिनमें स्वप्न दिखाया जाता है, अब अस्वाभाविक है; परंतु इसके स्थान पर अब एक नवीन उपाय की सृष्टि हुई है। वह है नाटक के प्रधान विचार, पात्र अथवा घटना से नाटक के सर्वथा बाहर की किसी विशिष्ट वस्तु का सामंजस्य या सादृश्य; जिसे अंग्रेजी में "सिबालिज़िम" कहते हैं। इब्सन के "वाइल्ड डक" और "लेडी फ्राम दि सी" नाटकों में यही किया गया है। इस सामजस्य या सादृश्य से समस्त नाटक पर एकता की स्थापना में बहुत सहायता मिलती है।

उपकथा और प्राकृतिक वर्णन का इस वायुमंडल की स्थापना के लिए अभी भी उपयोग किया जा सकता है।

आरंभ, विकास और अन्त

जिस प्रकार सृष्टि में हर वस्तु का आरंभ, विकास और अन्त होता है उसी प्रकार नाटक का भी। नाटक किस स्थान पर आरंभ हो और विकास के पश्चात् उसका कहाँ अन्त हो इस पर बहुत अधिक ध्यान रखना आवश्यक है। उपन्यास या कहानी आदि के सदृश नाटक का आरंभ, विकास और अन्त नहीं हो सकता। इसके दो प्रधान कारण हैं—पहला यह कि उपन्यास या कहानी में लेखक पात्रों के कथोपकथन के अतिरिक्त अपनी ओर से भी बहुत कुछ कह सकता है; दूसरा यह कि पहले हो चुकी बातों का वर्णन उपन्यास या कहानी में पीछे से भी किया जा सकता है। नाटक में यह दोनों बातें संभव नहीं हैं। फिर नाटक प्रदर्शन की वस्तु है अतः उसमें क्षणमात्र की शिथिलता को भी स्थान नहीं मिल सकता। इसलिए संघर्ष से ही नाटक का आरंभ होना सर्वोत्तम है। विकास के अनन्तर अन्त या तो जिस स्थल पर विषय पूर्ण विकास पर पहुँचे वहाँ होना चाहिए, या पूर्ण विकास के पश्चात् उपसंहार के लिए यदि कुछ कहना हो तो उपसंहार के अनन्तर। आजकल नाटकों का अन्त किस प्रकार होता है इस संबंध में बर्नार्ड शा का निम्न वक्तव्य पढ़ने योग्य है—

"सुख में या दुःख में नाटक के अन्त करने की प्रथा अब निरुपयोगी हो गयी है। ज्यों ही नाटककार अचानक हो जानेवाली घटनाओं को छोड़कर जीवन में नित्य होने वाली घटनाओं के आधार पर रचना आरंभ करता है, त्यों ही वह 'अन्त रहित' नाटकों को लिखता है। नेता के विवाह या बध के दृश्य पर यवनिका का पतन नहीं होता; परिणाम समझने के लिए पर्याप्त चरित्र-प्रदर्शन होते ही यवनिका पतन हो जाता है।"

रस

परन्तु, ध्यान रहे, उपर्युक्त समस्त बातों के होते हुए भी यदि किसी नाटक में "रस" या "इमोशन" का प्रादुर्भाव न हो तो वह कला का कोई उत्तम नमूना नहीं कहा जा सकता। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से युक्त स्थायी भाव के व्यंजित होने से होती है। नाटक पढ़ने और देखने दोनों की वस्तु है और चूंकि नाटक श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय दोनों ही मार्गों से हृदय के भावों को उद्दीप्त करता है इसलिए श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक में रस का परिपाक कहीं अधिक सफलता से हो सकता है, किन्तु इस सफलता को प्राप्त करना सरल नहीं है। थोड़ी-सी असावधानी से ही नाटक में रस भंग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढ़ने में अच्छे जान पड़ते हैं वे रंगमंच पर सफल नहीं होते और जो रंगमंच पर सफल होते हैं उनमें पढ़ते समय कोई विशेषता नहीं दिखती। रंगमंच पर घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटित होती हैं कि मन को विचार करने का बहुत थोड़ा अवसर मिलता है और पढ़ते समय विचार की मात्रा अधिक रहती है। रंगमंच पर घटना-प्रधान या दूसरे शब्दों में "वस्तु" या "प्लाट" प्रधान नाटक अधिक सफल होते हैं और पढ़ते समय भाव-प्रधान। भावों के समावेश के लिए घटना की गति को यदि कम किया जाता है तो प्रदर्शन में शिथिलता आती है और घटना की यदि तीव्र गति रखी जाती है तो भावों के समावेश को समय नहीं मिलता। इसीलिए बहुत थोड़े नाटक ऐसे पाये जाते हैं जो प्रदर्शन के समय जन-समुदाय को संतुष्ट करें और साथ ही उच्च भावों से भी भरे हों। भावों की उच्चता के बिना साहित्य की कोई भी वस्तु स्थायी महत्त्व की नहीं हो सकती। दोनों बातों का उचित मिश्रण कुशल नाटक-कार ही कर सकता है।

उत्तम नाटक रचने के लिए कला और काव्य-कला की व्यापक बातों पर

ध्यान रखने के अतिरिक्त यथार्थ में और कोई नियम उपयोगी नहीं हो सकते। जीवन-सम्बन्धी समस्याओं का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, संसार का अनुभव और लेखक की प्रतिभा ही नाटक-रचना के प्रधान साधन हैं। हाँ, स्वाभाविक प्रतिभा के साथ ही अध्ययन भी रचना में सहायता पहुँचाता है। कुछ लोगों के मन में अध्ययन के संबंध में एक विचित्र भ्रान्ति है। ये लोग सोचते और कहते हैं कि अध्ययन से मौलिकता नष्ट होती है। जब कभी मैं किसी का इस प्रकार का विचार सुनता हूँ तब मुझे श्री द्विजेन्द्रलाल राय के "चन्द्रगुप्त" नाटक का एक प्रसंग स्मरण हो आता है। "चन्द्रगुप्त" नाटक की हेलन बहुत अध्ययन किया करती थी। एक दिन उसके पिता सैल्यूकस ने उससे कहा यदि तू इतना अध्ययन करेगी तो तेरी मौलिकता नष्ट हो जायगी। हेलन कुछ विचार में पड गयी और विचारते हुए उसने उत्तर दिया—"पिता जी, यदि अध्ययन से मौलिकता न होती है तो गधे को सबसे अधिक मौलिक होना चाहिए, क्योंकि वह अध्ययन नहीं कर सकता।"

सफल नाटक का साहित्य में स्थान

सफल नाटक साहित्य में कितना उच्च स्थान रखता है इस विषय में लन्दन-यूनिवर्सिटी के अंग्रेजी भाषा के अध्यापक डाक्टर ए० निकोल ने अपने "एन इन्ट्रोडक्शन टु ड्रमेटिक थियोरी" नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"साहित्य के समस्त विभागों में नाटक उसका सबसे अधिक विलक्षण, सबसे अधिक रोमांचकारी और घटनाओं को सबसे अधिक पटुता से प्रदर्शित करनेवाला विभाग है। जिस समाज में उसका प्रादुर्भाव होता है उस समाज की आन्तरिक भावनाओं के वह इतने निकट रहता है, अनेक युगों तक भिन्न-भिन्न देश-देशान्तरों के निवासियों को विविध प्रकार से वह इतना प्रभावित करता है, मानव समाज के समस्त वर्ग जहाँ एकत्रित होते हैं, उस रंगमंच से वह इतना घनिष्ट संबंध रखता है, उसका दृष्टिकोण एवं ध्येय सामाजिक दृष्टि से इतना व्यापक रहता है और हास्य रस तथा विदूषकता के गहरे गर्त में उतर कर भी वह कवि-कल्पना के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की इतनी क्षमता रखता है कि मानव बुद्धि-द्वारा उपार्जित साहित्य में मनोरंजन की दृष्टि से उसका निश्चयपूर्वक ही सर्वश्रेष्ठ स्थान सिद्ध हो जाता है।"

नाटक का कार्य मनोरजन के अतिरिक्त और क्या है इस सम्बन्ध में

उपर्युक्त लेखक अपनी इसी पुस्तक में कहते हैं—

"यह स्पष्ट है कि अपने उच्चतम रूप में नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। जिस काल में नाटक का केवल इतना ही उपयोग होता है...... उस काल की नाट्य-रचना निम्न-कोटि की एवं विचारशून्य रहती है। उत्तम नाटक का प्रादुर्भाव केवल उसी समय होता है जब नाटक मनोरंजन के साथ-साथ किसी विचार विशेष अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीयता के सिद्धान्त का प्रदर्शन करता है।"

आदर्शवाद, यथार्थवाद, स्वाभाविकवाद

अब अन्त में हमें आदर्शवाद, यथार्थवाद और स्वाभाविकवाद पर भी विचार कर लेना चाहिए। इस विषय में मेरा विनम्र मत यह है कि कला में आदर्शवाद ही नींव के रूप में रहना ही चाहिए। बिना आदर्शवाद के रचनाएँ प्रायः साधारण कोटि की हो जाती हैं। परन्तु आदर्शवाद की नींव पर जो भवन खड़ा किया जाय, वह यथार्थवादी हो। वास्तव में जब तक आदर्शवाद, यथार्थवाद का हाथ थामकर न चले, वह जनता के आँगन में नहीं पहुँच सकता और प्रायः अस्वाभाविक हो जाता है। भावुकतामय आदर्शवाद से ऊब उठने के कारण ही पश्चिम में यथार्थ-वाद और फिर अति यथार्थवाद का प्रवर्तन हुआ। परन्तु, इसने शनैः शनैः रचनाओं को अत्यन्त साधारण कोटि का बना दिया। तब नारवे के इब्सन ने एक नये स्वाभाविकवाद को जन्म दिया जिस वाद की नींव है आदर्श और भवन है यथार्थवादी। आजकल यह स्वभाविकवाद ही नाट्य रचना की आधार-भित्ति माना जाता है।

प्रत्यक्ष जनता से परे अप्रत्यक्ष जगत की कल्पना को आदर्श समझा जाता है। प्रत्यक्ष जगत की अनुभूति के पश्चात् ही अप्रत्यक्ष जगत के प्रति जिज्ञासा एवं कौतूहल की उत्पत्ति होती है, यह आदर्श रूप में सम्बोधित होता है। अनुभूतिगम्य जगत का व्यापार यथार्थ से सम्बन्ध रखता है। कलात्मक जगत का व्यापार अनुभूतिगम्यता के अभाव में आदर्श प्रधान हो जाता है। यदि दोनों जीवन निर्माण में एकांगी होकर प्रस्तुत हों तो पूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति नहीं दे सकेंगे। मेरे निजी विचार हैं कि आदर्श का महत्त्व जीवन को उच्च स्तर पर आने के लिए साध्य रूप में हो और यथार्थ साधन रूप में होना चाहिए। यथार्थ यदि अपने अपूर्ण रूप में रहकर आदर्श की स्थिति में न पहुँच

सका तो रचनात्मक यथार्थ नहीं कहा जा सकता और यदि आदर्श जीवन के यथार्थ से दूर हटकर कल्पनाप्रधान हो जाय तो वह रचनात्मक आदर्श नहीं कहा जा सकेगा। आवश्यक है कि दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर कला में अवतरित हों। कलात्मक अभिव्यंजना में निखार के लिए रचनात्मक यथार्थ शैली के रूप में प्रस्तुत हो तो आदर्श को संजीवित होने का सुअवसर मिल सकता है। यह भी मैं स्पष्ट कर दूँ कि शैली के रूप में यथार्थ को जीवन-सत्य के उद्घाटन में अपनी रचनात्मकता को ध्यान में रखना होगा। मेरे मतानुसार यथार्थ की शैली रूप में कलात्मक अभिव्यक्ति आदर्श के लिए होना चाहिए।

नाट्य साहित्य
(रूपरेखा)

१. संसार में सर्वप्रथम नाटक की रचना कहाँ हुई ?

२. दैवी उत्पत्ति।

३. वेदों से नाटक की उत्पत्ति।

४. धार्मिक उत्पत्ति का सिद्धान्त।

५. वीर-पूजा से नाट्य-उत्पत्ति।

६. पुत्तलिका नृत्य से नाट्य-उत्पत्ति।

७. छाया नाटक से नाट्य-उत्पत्ति।

८. प्रकृति परिवर्तन से नाट्य-उत्पत्ति।

९. समन्वित विकासवाद का सिद्धान्त।

१०. संस्कृत नाटकों की परंपरा—

    क. वेद और वेदान्त में।
    ख. वाल्मीकि रामायण में।
    ग. पाणिनि के सूत्रों में।
    घ. महाभारत में।
    ङ. बौद्ध और जैन साहित्य में।

११. संस्कृत के प्रधान नाटक।

१२. प्राकृत के नाटक।

१३. अपभ्रंश में नाट्य साहित्य।

१४. हिन्दी नाटक।

१५. उर्दू नाटक।

१६. बंगला नाटक।

१७. असमिया नाटक।

१८. उड़िया नाटक।

१९. मराठी नाटक।

२०. गुजराती नाटक।

२१. पंजाबी नाटक।

२२. काश्मीरी नाटक।

२३. तमिल नाटक।

२४. मलयालम नाटक।

२५. कन्नड़ नाटक।

२६. तेलगू नाटक।

२७. विदेशी नाट्य साहित्य का भारतीय नाट्य साहित्य पर प्रभाव।

२८. भारतीय नाट्य साहित्य का स्थान।

नाट्य साहित्य

यों तो नाटक शायद उतना ही पुराना है जितना मानव। मनुष्य में अनुकरण करने की जो नैसर्गिक प्रवृत्ति है उसीने नाटक को जन्म दिया। परन्तु जिसे आज नाटक कहते हैं उसकी संसार में सर्वप्रथम रचना भारत और यूनान में हुई; यूनान से भी भारत में पहले।

जिस प्रकार भारत का वाल्मीकि रामायण आदि काव्य माना जाता है और महर्षि वाल्मीकि आदि कवि, उस प्रकार यहाँ का आदि नाटक और आदि नाटककार कौन है, इसका अब तक पता नहीं लग पाया। फिर आरंभ में जो नाटक लिखे गये वे भी अप्राप्य हैं। उन नाटकों में से कुछ का इधर-उधर अन्य ग्रन्थों में उल्लेख मात्र मिलता है, परन्तु वे नाटक प्राप्त नहीं। वाल्मीकि रामायण में भी नाटकों का उल्लेख है। अनुमान किया जाता है कि रामायण की रचना से बहुत पहले नाटकों की रचना होती रही होगी। त में नाटकों की उत्पत्ति का आधार क्या हुआ, इस संबंध में एक ही बात नहीं कही जा सकती। इस विषय में विविध विद्वानों ने विविध आधारों का अवलम्ब लिया है। अब यहाँ हम उन मतों का संक्षेप से वर्णन करेंगे। परन्तु, इन मतों को सुनने के पूर्व यह जान लेना उचित होगा कि इन मतों में से कोई भी एक मत सबको स्वीकृत नहीं है; साथ ही हर मत में कुछ न कुछ तत्त्व की बात पायी जाती है।

दैवी उत्पत्ति

प्राचीन युग में मनुष्य को ईश्वर तथा अन्य दैवी शक्तियों पर दृढ़ विश्वास था। जीवन और ज्ञान के किसी भी पहलू पर विचार करते हुए उन का यह विश्वास सहज ही किसी न किसी रूप में प्रकट हो जाता था। उदाहरण के लिए सृष्टि पर विचार करते हुए यह कहा गया कि उसका निर्माण करने वाला ईश्वर है। भाषा के सम्बन्ध में विचार करते हुए भी यह कहा गया कि ब्रह्मा ने भाषा को उत्पन्न किया है। यही बात भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति के बारे में कही है। उन्होंने यह कथा इस प्रकार दी है। त्रेतायुग में मानव-जीवन अनेक प्रकार से विषम हो गया तो इन्द्र सब देवताओं को साथ लेकर ब्रह्मा के पास गया और उनसे प्रार्थना की कि हम कोई ऐसा खेल खेलना चाहते हैं जो देखने तथा सुनने दोनों के ही योग्य हो और जिससे शूद्र तथा अन्य

सामान्य व्यक्ति आनन्द प्राप्त कर सकें। यह सुनकर ब्रह्मा ने देवताओं की प्रार्थना को स्वीकार किया और चारों वेदों से एक-एक तत्त्व लेकर एक पाँचवें वेद नाट्य वेद की रचना की। इसकी रचना करने के लिए ब्रह्मा ने ऋग्वेद से कथा, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किया।

आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के सिद्धान्त को स्वीकार करना असम्भव-सा है। आज के युग में तो सृष्टि और मनुष्य के संबंध में भी विकासवाद का सिद्धान्त प्रायः स्वीकार कर लिया गया है तो नाटक के लिए दैवी उत्पत्ति कैसे स्वीकार की जा सकती है। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि नाट्य शास्त्र से पहले नाटकों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि जब तक यथेष्ट परिमाण में नाटक रचना न हो चुकती तब तक नाट्य शास्त्र के ग्रन्थ नहीं लिखे जा सकते थे।

सर्वप्रथम वेदों से नाटकों की उत्पत्ति

नाटक का आरम्भिक रूप वेदों में यज्ञ आदि के अवसरों पर प्रस्तुत वर्णनों में मिलता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ नाटक के तत्त्वों के दर्शन होते हैं; जैसे इन्द्र-भरत संवाद, विश्वामित्र और नदियों का सम्वाद, इन्द्र और वरुण का सम्वाद आदि। कात्यायन श्रोत सूत्र में सोमयाग यज्ञ के अवसर पर इन्द्र के उपासकों द्वारा सोमरस के खरीदे जाने का नाटकीय वर्णन मिलता है। इसमें तीन पात्र हैं--यजमान, सोमविक्रेता और अध्वर्यु। सोमरस खरीदने के लिए पाँच बार मूल्य पूछा जाता था। इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अरे सोम बेचने वाले, सोम राजा की बिक्री करोगे ?"
"बिक्री होगी।"
"तो खरीदा जायगा।"
"ले लीजिए।"
"गौ की एक कला मैं मूल्य में दूंगा।"
"सोम राजा कहीं अधिक मूल्यवान हैं।"
"गौ भी कम नहीं है। इसमें दूध, घृत, छाछ सभी कुछ है; अच्छा, अष्टम भाग ले लीजिए।"

"सोम राजा का मूल्य इससे कहीं ज्यादा है ।"
"तो चतुर्थ भाग ले लो ।"
"नहीं, इससे भी अधिक चाहिए ।"
"अच्छा, अर्द्ध भाग ले लो ।"
"नहीं, और अधिक चाहिए ।"
"भाई, पूरी की पूरी गौ ले लो ।"
"तब सोम राज की बिक्री हो चुकी; परन्तु गौ के सिवा और क्या मिलेगा ? सोम राजा की कीमत समझो, कुछ और दो "
"सोना दूंगा, वस्त्र दूंगा ।"

सोम की बिक्री करने वाला व्यक्ति जब सोम को बेचने के लिए तैयार हो जाता है तब इसे सुवर्ण दिखाकर लुभाया जाता है, पर वह सोना उसे दिया नहीं जाता । यह अभिनय कुछ समय तक चलता रहता है । उस बनवासी को लालच दिखाकर अध्वर्यु सुवर्ण को अपने यजमान के पास रख देता है । बनवासी को गाय भी नहीं दी जाती । गाय के स्थान पर एक बकरी दी जाती है । कुछ सुवर्ण यजमान उसे देता है । सोना पाकर सोम बेचने वाला यजमान के वस्त्रों पर सोम छिड़क देता है । सोम प्राप्त होने पर वह यजमान कुछ जप आदि करने बैठ जाता है मानों उसका अब सोम के झगड़े से कोई सरोकार नहीं है । परन्तु एकाएक वस्तुस्थिति बदलती है । सोम बेचने वाले से सुवर्ण छीनकर विक्रेता को पीट, उसे भगा दिया जाता है । तदुपरांत सोमराजा एक वाहन पर निकाले जाते हैं और इसके पश्चात् सोमरस के प्रेमी उत्सव के देवता इन्द्र का आवाहन करते हैं ।

इस मत में तत्त्व की बात इतनी ही है कि वेदों में नाटक के कुछ तत्त्वों, सम्वादों आदि का आरम्भिक रूप लक्षित होता है और जैसा कि भरत मुनि के उपर्युक्त मत से संकेत मिलता है, वेद के इन अंशों का प्रभाव नाटक के विकास में कार्यशील हुआ है । लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेदकाल में लोगों को नाटक का ज्ञान था या तब नाटक रचना हुआ करती थी । ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि वैदिक ऋषि नाट्य कला से परिचित थे । इसी तरह उपनिषदों में भी यम और नचिकेता, शिवकेतु और उसके पिता के मध्य जो कथोपकथन हुआ है उसमें भी नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं ।

धार्मिक उत्पत्ति

प्राचीन मानव धर्मप्राण था। वह जीवन के प्रत्येक पहलू पर धार्मिक दृष्टि से विचार करता था। इसीके अनुरूप नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भी धार्मिक दृष्टि का उपयोग किया गया। इस मत के अनुसार ऐसा माना जाता है कि विविध धार्मिक भावनाओं की गंभीर व्यापकता को लक्ष्य कर उनका प्रदर्शन करने की प्रेरणा कई विद्वानों के मन में जगी होगी। कुशल प्रतिभा के हाथों में इसी प्रेरणा ने नाटक का रूप ग्रहण कर लिया। इस मत की पुष्टि विविध नाटकों (प्राप्त एवं उल्लिखित) के आधार पर होती है। आरम्भिक नाटक ऐसे हैं जिनका लक्ष्य धार्मिक भावनाओं का उद्रेक करना ही रहा है। ऐसे कुछ नाटकों के नाम हैं—"कंस वध" "बालि बंध" "त्रिपुरदाह" आदि। और आगे चलकर रामलीला का विकास जिस रूप में हुआ उसमें तो यह धार्मिक भावना स्पष्ट रूप से महान् शक्तिशाली कार्य करती हुई लक्षित होती है।

किन्तु इस मत की पूर्णता में भी संदेह है। यह तो माना जा सकता है कि नाट्योत्पत्ति के मूल में जहाँ अन्य अनेक कारण रहे वहाँ धार्मिक भावना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु नाटक की उत्पत्ति के मूल में यही एकमात्र भावना रही, यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्त में जब हम नाट्योत्पत्ति के समन्वित सिद्धान्त की चर्चा करेंगे तो वहाँ इस मत को भी आंशिक रूप से स्वीकार करेंगे ही।

वीर-पूजा से नाट्योत्पत्ति

इस मत के प्रतिपादक हैं डा० रिजवे। इस मत का आधार है मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति, जिसकी प्रेरणा से वह हमेशा से अपने समाज के वीरों को सम्मानित करता आया है। सम्मानित करने के विविध ढंग हैं। उन्हीं विविध ढंगों में से नाटक भी एक है। नाटक रचना के द्वारा जहाँ एक ओर नाटक के वीर नायक का सम्मान होता है, वहाँ समाज पर भी उसके वीर चरित्र का गुणकारी प्रभाव पड़ता है। पर यह मत भी आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है कि नाट्योत्पत्ति के मूल में एक कारण वीर-पूजा की प्रवृत्ति रही होगी। किन्तु यही नाटक की उत्पत्ति का एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता।

पुत्तलिका नृत्य से नाट्योत्पत्ति

जर्मन विद्वान डा० पिशेल ने नाटक की उत्पत्ति का मूल पुत्तलिका नृत्य माना

है। पुत्तलिका नृत्य में और नाटक में दोनों में ही सूत्रधार का होना इस मत का पोषक प्रमाण है। किन्तु केवल इसी प्रमाण के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि नाटक का आरंभिक रूप पुत्तलिका नृत्य में ही रहा। नाटक में सूत्रधार शब्द का प्रयोग लाक्षणिक मानना चाहिए; वाचिक नहीं। इस मत के विपरीत डा० रिजवे ने यह प्रतिष्ठित किया है कि नाटक की प्रेरणा से पुत्तलिका नृत्य का जन्म हुआ है। मानव समाज में पहले नाटकों का प्रचलन हुआ होगा और फिर उसीके प्रभाव के फलस्वरूप पुत्तलिका नृत्य की योजना हुई होगी। वस्तुतः पुत्तलिका नृत्य और नाटक के बीच इस प्रकार संबंध जोड़ने के लिए पर्याप्त ऐतिहासिक आधार की अपेक्षा है।

छाया नाटक से नाट्योत्पत्ति

इस मत का उल्लेख भी डा० पिशेल ने ही किया है और स्टेनकोनों ने इस मत का समर्थन किया है। इस मत का आधार यह तथ्य है कि कई प्राचीन नाटकों में छाया नाटक की टैकनीक का प्रभाव लक्षित होता है।

किन्तु इस मत के सम्बन्ध में वही आक्षेप है जो इससे पहले मत के सम्बन्ध में किया गया है। मानव समाज में पहले छाया नाटक का प्रचलन हुआ या नाटक का ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमारे पास पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। पिशेल के इस मत के ठीक विपरीत डा० रिजवे ने यह विचार व्यक्त किया है कि छाया नाटक से नाट्योत्पत्ति नहीं हुई वरन् नाटक से छाया नाटक की उत्पत्ति हुई है। वस्तुतः छाया नाटक का स्वरूप अधिक सूक्ष्म और योजना अधिक कष्ट-साध्य है।

प्रकृति परिवर्तन से नाट्योत्पत्ति

डा० कीथ ने पतञ्जलि के महाभाष्य के आधार पर इस मत का प्रतिपादन किया है कि नाटक की योजना वस्तुतः प्रकृति के अमूर्त्त परिवर्तनों को मूर्त्तरूप देने की प्रेरणा से हुई है। उदाहरण के लिए "कंस वध" में कंस के पक्ष वालों का मुख काला है और कृष्ण के पक्ष वालों का मुख लाल। कृष्ण की कंस पर विजय होती है। इसे डा० कीथ ने वसन्त की हेमन्त पर विजय का प्रतीक माना है। किन्तु यह मत इतना दुर्बल है कि आगे चलकर कीथ ने स्वयं ही इसे अस्वीकार कर दिया।

समन्वित विकासवाद का सिद्धांत

उपर्युक्त विविध मतों के परिदर्शन एवं आलोचना से यह स्पष्ट हो गया होगा कि नाट्योत्पत्ति के मूल में कोई एक कारण नहीं रहा, वरन् विविध कालों एवं अवसरों पर विविध प्रवृत्तियों की प्रेरणा से नाटक की उत्पत्ति हुई। आरम्भ में प्रत्येक अवसर और काल के नाटक अन्य अवसरों या कालों के नाटक से पर्याप्त रूप से भिन्न रहे होंगे। उसके बाद विविध प्रकार के नाटकों के परस्पर आदान-प्रदान से, नाटक की योजना का एक समन्वित स्वरूप विकसित हुआ होगा। इस प्रकार दीर्घ काल में विविध व्यक्तियों एवं प्रवृत्तियों के सहयोग से नाटक के स्वरूप का विकास हुआ।

विकासवाद के इस सिद्धांत का प्रतिपादन सबसे पहले डा० मेक्डानल्ड ने किया और इसके बाद कई विद्वानों ने उनके मत का समर्थन किया।

नाटक से पूर्व नृत्य का जन्म हो चुका होगा। आदिम मानव जब जंगलों में रहता था और जब सम्भवतः उसे भाषा के विधिवत प्रयोग की क्षमता प्राप्त नहीं हुई होगी, नृत्य का जन्म तब भी हो चुका होगा। आगे चलकर नाटक के विकास में इस नृत्य का गहरा प्रभाव रहा होगा। जिस प्रकार नृत्य विशेष अवसरों पर किया जाता था उसी प्रकार आगे चलकर विशेष अवसरों पर नाटक की योजना की जाती होगी, जिसमें मानव जीवन के विविध भावों एवं घटनाओं का प्रकाशन होता होगा।

संस्कृत नाटकों की परम्परा

नाट्योत्पत्ति की समस्या पर विचार कर लेने के उपरान्त अब संस्कृत नाटकों की परम्परा का संक्षिप्त परिचय देना उपयोगी होगा, क्योंकि जैसा अभी कहा गया है सर्वप्रथम विश्व में नाटक रचना भारत में ही हुई और प्राचीन भारत की भाषा संस्कृत होने के कारण संस्कृत में। संस्कृत के प्राप्य नाटकों के आधार पर संस्कृत नाटक के आरम्भिक स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकता। उससे पूर्व ऐसे नाटकों की रचना हो चुकी थी, जो आज प्राप्त नहीं हैं, किन्तु जिनका उल्लेख यत्र-तत्र मिल जाता है। निम्न प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से पहले भी नाटकों की सत्ता का ज्ञान होता है।

वेद और वेदान्त में—वेदों में किस प्रकार नाटक के तत्त्वों के दर्शन होते हैं, और सोमयाग के अवसर पर किस प्रकार नाटक का आरम्भिक रूप लक्षित होता है, इसका चर्चा पहले की जा चुकी है। इसी प्रकार उपनिषदों के नाटकीय तत्त्वों की भी।

वाल्मीकि रामायण में—संस्कृत के आदि काल में ऐसे कई संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उस काल का समाज नाटकों से परिचित था और विशेष अवसरों पर नटों के काय-व्यापार का प्रदर्शन होता था। बालकाण्ड के तेरहवें सर्ग में जब महाराज दशरथ अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन करते हैं तो उस अवसर पर नट और नर्त्तकों के कार्य-व्यापार का उल्लेख हुआ है। अयोध्याकाण्ड के प्रथम सर्ग में यह उल्लेख हुआ है कि राम ने एक नाटक पढ़ा था जो मिश्रित भाषा में था। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर भी नटों की वाणी जनता को आनंदित करती रही, ऐसा उल्लेख हुआ है। राम-वनवास के पश्चात् दशरथ के दुःख को शान्त कर उन्हें प्रसन्न करने के लिए नाटक आदि किये गये। दशरथ के देहावसान के समय भरत अपनी ननिहाल में थे, बहुत चिन्तित और उद्विग्न। उन्हें प्रसन्न करने के लिए भी नृत्य नाटक आदि का आयोजन हुआ।

पाणिनि के सूत्रों में—पाणिनि ने शिलालिन और कृशाश्व नाम के दो आचार्यों का उल्लेख किया है तथा कंस से संबंधित कुछ उदाहरण भी दिये हैं जिनके विषय में विद्वानों का यह मत है कि वे संभवतः "कंस वध" नाटक से लिये गये हैं। मनुस्मृति में भी शिलालिन और कृशाश्व का उल्लेख हुआ है।

पतंजलि के महाभाष्य में—इस ग्रन्थ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि नटों को अभिनय करने की विधिवत शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षकों को "शौमिक" कहते थे। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में "कंस वध" और "बालि बंध" दो नाटकों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

महाभारत में—महाभारत में "रामायण नाटक" और "कौबेर-

रम्भाभिसार नाटक" दो नाटकों का उल्लेख मिलता है; "कौबेर-रम्भाभिसार नाटक" की तो विस्तृत कथा दी गयी है। इसके अतिरिक्त महाभारत में अन्य अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ नटादि का उल्लेख हुआ है।

महाभारत में सन् ईस्वी के बाद के भी क्षेपक मिलते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उपर्युक्त अंश कब के हैं। यदि वे मूल महाभारत के अंश माने जायँ तो ये दोनों नाटक भरत से पूर्व के मानने पड़ेंगे; पर इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कह सकना संभव नहीं है।

उपर्युक्त पंक्तियों से प्रत्यक्ष सिद्ध है कि भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से (जो विश्व के साहित्य में नाट्य शास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है) बहुत पहले ही नाटक किसी न किसी रूप में विद्यमान थे। यहाँ नाटक शब्द का प्रयोग पूर्ण रीति से उस अर्थ में नहीं समझना चाहिए जिस अर्थ में उसका आज प्रयोग होता है। वे नाटकों के आरंभिक रूप थे और इसलिए बाद के संस्कृत नाटकों से पर्याप्त रूप से भिन्न रहे होंगे।

साथ ही यह भी स्पष्ट है कि ऊपर के संकेतों के आधार पर हम संस्कृत नाटक की परंपरा के विकास का परिदर्शन भी नहीं कर सकते, क्योंकि ये संकेत प्रायः अस्फुट एवं अपूर्ण हैं। किन्तु इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भरत मुनि से पूर्व नाटक की एक परंपरा बन चुकी थी, जिसके आधार पर भरत ने नाटक का विवेचन किया।

बौद्ध और जैन साहित्य में—बौद्ध काल में भारत में नाटकों का विकास हो चुका था। बिंबसार ने दो नाग सम्राटों के आतिथ्य सत्कार के लिए नाटक करवाया था। स्वयं भगवान बुद्ध की उपस्थिति में राजगृह में एक नाटक का अभिनय हुआ था। जातक कथाएँ ईसा के पूर्व की दूसरी और तीसरी शताब्दी में निर्मित हुई हैं। उन कथाओं में से "कुश" जातक में एक वाक्य है—"दत्व नाटकानि उपत्थ पेस्साममद्दे पुत्तस्स ते रज्जमला।" अर्थात् आपके पुत्र की राजगद्दी के अवसर पर हम लोग नाट्योत्सव करेंगे। "उदय" जातक में एक वाक्य आता है—"राजा पुत्तं अभिसिंचित्व नाटकानि पशुपत्थ पेस्साम।" अर्थात् राजा ने अपने पुत्र के अभिषेक के अवसर पर नाटकों के अभिनय की इच्छा की।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी ऐसे संकेत हैं जिनके आधार पर नटों एवं नाटकों की विद्यमानता की पुष्टि होती है।

जैन कथाओं में भी इस प्रकार के अनेक प्रसंग मिलते हैं।

संस्कृत के प्रधान नाटक

सस्कृत नाटकों की परंपरा में सबसे प्राचीन रचनाएँ हैं जो खंडित हैं। इनके नाम हैं—"शारीपुत्र प्रकरण", "अन्याय देशी रूपक" और "गणिका रूपक"। ये रचनाएँ किसकी हैं, इस विषय में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने इन्हें अश्वघोष की रचनाएँ माना है। कालिदास ने अपने पूर्ववर्ती तीन नाटककारों का उल्लेख किया है—भास, सौमिल और कविपुत्र। इन तीनों में से भास की रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, अन्य दोनों नाटककारों की कृतियों के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं। कालिदास, बाण तथा राजशेखर सभी ने भास की कला की प्रशंसा की है और प्रसन्न राघवकार जयदेव ने उसे कविता कामिनी का "हास" बताया है। कहा जाता है कि भास की एक रचना "स्वप्नवासवदत्ता" को अग्नि में डाल दिया गया और वह उसमें नहीं जली। यद्यपि इस घटना की सत्यता मान्य नहीं हो सकती, तो भी इससे भास की नाट्य कला की महिमा का संकेत मिलता ही है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि यह अमर रचना है।

कालिदास तक आते-आते संस्कृत की नाट्य कला पूर्ण उत्कर्ष को पहुँची। कालिदास से पूर्व भास के नाटकों में यद्यपि एक विशेष प्रकार का माधुर्य और सरल कला के दर्शन होते हैं, तो भी कालिदास के हाथों में आकर संस्कृत नाट्य कला सर्वतोमुखी विकसित रूप को प्राप्त हुई। कालिदास के तीन नाटक उपलब्ध हैं—"मालविकाग्निमित्र", "विक्रमोर्वशीय" तथा "अभिज्ञानशाकुंतल"। कथा-योजना, रूप-विधान, भाषा-लालित्य, रस-गांभीर्य आदि की दृष्टि से कालिदास के नाटक चमत्कारपूर्ण हैं।

शूद्रक का "मृच्छकटिक" नाटक सारे संस्कृत साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें अन्य नाटकों के विरोध में सामान्य जीवन की झाँकी यथार्थ एव शक्तिशाली रूप में लक्षित होती है। इसी बात में इसका विशिष्ट महत्त्व है।

हर्षवर्धन के नाम से तीन रूपक प्राप्त होते हैं—"नागानंद" नाटक है तथा "प्रियदर्शिका" और "रत्नावली" नाटिकाएँ हैं। हर्ष के विषय में दो मत हैं। एक मत के अनुसार तो वे कालिदास की परंपरा में आते हैं और उन्होंने नाटक की टैकनीक की उपेक्षा ही की है। दूसरे मत के अनुसार उन्होंने भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित नियमों का अन्धानुकरण किया है। उनकी रचनाओं में जीवनी शक्ति का अभाव है तथा वे अनुकरण मात्र हैं।

भट्ट नारायण का "वेणी संहार" नाटक नाट्य सिद्धांतों को ही ध्यान में रखकर रचा गया है। यद्यपि इसमें संवादों में विशेष सफलता लक्षित होती है तथापि भट्ट नारायण की शैली कृत्रिम एवं अलंकारवादी है। नाटक की दृष्टि से उस रचना का विशेष महत्त्व नहीं है।

विशाखदत्त के "मुद्राराक्षस" में हमें उक्त शास्त्रीय परंपरा की प्रतिक्रिया लक्षित होती है। विशाखदत्त ने नाटक का आधार शास्त्र नहीं, अपनी स्वतंत्र प्रतिभा को ही बनाया। यद्यपि यह नाटक किसी प्रकार के प्रणय-प्रकाशन से रहित है, और राक्षस एवं चाणक्य के राजनीतिक युद्ध को ही आधार बनाकर चलता है, तो भी यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि इसकी कथावस्तु की योजना संगठित और विकास सहज है।

भवभूति ने भी नाटक के शास्त्रीय पक्ष की उपेक्षा कर स्वतंत्र दृष्टि से नाटकों की रचना की है। उनके तीन नाटक उपलब्ध होते हैं—"मालतीमाधव" "महावीर चरित" एवं "उत्तर रामचरित"। इन तीनों में "उत्तर रामचरित" अधिक विख्यात है। यह अपनी कथा में सामाजिक स्थिति को भी बरबस लपेट लेता है। इसीके साथ भवभूति ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि करुण रस ही मूल रस है, अन्य सभी रस तो उसकी आंशिक अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं।

भवभूति के साथ ही संस्कृत की महान् नाटक परंपरा समाप्त हो जाती है। यद्यपि उनके बाद भी सैंकड़ों नाटकों की रचना हुई किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका कोई महत्त्व और स्थान नहीं है। अनुमान किया जाता है कि संस्कृत के छोटे-बड़े सभी नाटकों की संख्या करीब छः सौ है और यह नाट्य परंपरा लगभग चौदह सौ वर्ष तक चलती रही।

प्राकृत में नाट्य साहित्य

संस्कृत भाषा के निरन्तर जटिल होते जाने के कारण संस्कृत से प्राकृत भाषा का निर्माण हुआ। बोलचाल में प्राकृत का उपयोग अधिक होता था। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों में स्त्री पात्र तथा समाज के नीचे तपके के पात्रों के लिए प्राकृत भाषा उपयोग में आने लगी। पहली प्राकृत थी पाली जिसने कालान्तर में साहित्यिक प्राकृत का रूप धारण किया जिससे महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्धमागधी चार मुख्य भाषाएँ निकलीं। महाराष्ट्री इनमें प्रमुख मानी जाती है।

जैसा अभी कहा गया है संस्कृत के नाटकों में तो प्राकृत का उपयोग हुआ ही है, परन्तु, संस्कृत भाषा के उत्तर काल के कुछ नाटक जो संस्कृत भाषा के माने जाते हैं वे यथार्थ में प्राकृत के माने जाने चाहिए। दृष्टान्त के लिए शूद्रक कृत "मृच्छकटिक"। यह नाटक संस्कृत के प्रधान नाटकों में एक है, परन्तु सामाजिक नाटक होने के कारण इसमें संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का कहीं अधिक उपयोग हुआ है। सूत्रधार, नटी, नायिका, विदूषक आदि ग्यारह पात्र शौरसेनी प्राकृत में बोलते हैं, चन्दनक महाराष्ट्री में, साकार, स्थावरक, कुम्भीलक, मागधी में।

संस्कृत नाट्य शास्त्र में रूपकों और उपरूपकों का जो विभाजन है उसमें सट्टक उपरूपक का एक भेद है। सट्टक तो पूरे के पूरे प्राकृत में ही लिखे गये हैं। सट्टक शब्द ही प्राकृत भाषा का शब्द है। "कर्पूरमंजरी" सट्टक जो संस्कृत का एक प्रसिद्ध नाटक माना जाता है, वह यथार्थ में प्राकृत का माना जाना चाहिए। इसके सिवा संस्कृत के कुछ और भी प्रसिद्ध सट्टक हैं, यथा "रम्भामंजरी," "चन्द्रलेखा," "शृंगार मंजरी," "आनंद सुन्दरी"। ये सब सट्टक यथार्थ में संस्कृत के न होकर प्राकृत के हैं।

अपभ्रंश में नाट्य साहित्य

भाषा विज्ञान के आचार्यों के मतानुसार अपभ्रंश भाषा का समय ५०० ईस्वी से १००० ईस्वी तक है। परन्तु, इस भाषा का जो साहित्य उपलब्ध है, वह है प्रधानतया नवीं शताब्दी और बारहवीं शताब्दी के बीच का। इस काल में इस भाषा में अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ कवि हुए। इनमें प्रमुख हैं स्वम्भू पुष्पदन्त, धकल, धनपाल, नयन्दी, कनकामर, धाहिले आदि। अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य प्रचा-

रात्मक साहित्य है। इस काल के साहित्य का उद्देश्य जनसाधारण को नैतिक जीवन की ओर प्रेरित करना था। अपभ्रंश में किसी महान् नाट्य साहित्य की रचना शायद नहीं हुई, कम से कम इस भाषा का कोई उल्लेख योग्य नाटक आज प्राप्त नहीं है। परन्तु अपभ्रंश भाषा के विद्वान् श्री मुनि जिनविजयजी द्वारा सम्पादित "पुरातन प्रबन्ध संग्रह" में यह उल्लेख आया है कि उस समय विनोद आदि के लिए नाटक रचना होती थी। इसी प्रसंग में इस ग्रंथ में राजा भोज के समय अपभ्रंश के एक नाटक का उल्लेख आया है। राजा भोज ने "सिद्धरस" बनाने वाले कुछ योगियों को बुलाकर इस रस को बनवाना चाहा। जब वे यह रस न बना सके तब उनका मजाक करने के लिए एक नाटक की रचना हुई। अपभ्रंश में कुछ "रास" ग्रन्थ भी मिले हैं। रास, रासो या रासक शब्द के अर्थ तथा ऐसे ग्रन्थों के ये नाम क्यों पड़े, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। जो कुछ हो, एक स्थल पर कुछ स्त्री पुरुषों के मण्डल में नृत्य करने को भी रास या रासक कहा गया है। व्रज मण्डल का कृष्ण-रास प्रसिद्ध ही है। यहाँ सवाल यह उठता है कि अपभ्रंश में जो रास ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं उन ग्रन्थों के अनुसार रास केवल नृत्य होता था अथवा नृत्य के साथ उसमें अभिनय का भी अंश रहता था। नृत्य और नाट्य में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि नृत्य में आंगिक अभिनय की और नाट्य में वाचिक अभिनय की प्रधानता रहती है। अपभ्रंश के पूर्व संस्कृत और प्राकृत में तथा अपभ्रंश के पश्चात् हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में जिस प्रकार गद्य का विकास हुआ उस प्रकार के गद्य का विकास अपभ्रंश काल में नहीं हुआ था। पद्यात्मक नाटकों को छोड़ अन्य नाटकों में गद्य भी आवश्यक है। इसीलिए शायद अपभ्रंश काल में उच्च नाट्य साहित्य की रचना नहीं हुई। हाँ, इस बीच हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में कुछ ऐसे आयोजन अवश्य होते रहे जिनमें नाटकीय तत्त्वों का समावेश रहता था। इनमें से हिन्दी में प्रमुख थे—"रास लीला", "रामलीला", "नौटंकी", "विदेशिया", "स्वांग", "कीर्त्तनिया"; बंगला, असमिया, मराठी और गुजराती में "जात्रा", "रस", "पवाड़ा", "गरवा"; उड़िया में "दण्डनाट", और "छउ"; तमिल और मलयालम में "कूत्तु"; तेलगू में "बुर्राकथा", "हरिकथा" और "विधिनाटकम्" इत्यादि। परन्तु संस्कृत के प्राचीन नाटकों की दृष्टि से और आधुनिक काल की दृष्टि से अभी इस देश में यह काल सच्चे नाटकों के रूप में शून्य सा ही रहा है।

हिन्दी नाटक

हिन्दी का जन्म शौरसेनी से वि० सं० १०५० के आसपास माना जाता

है। हिन्दी के जन्म का समय भारत में राजनैतिक उथल-पुथल और उलट-फेर का काल था। इसी समय से मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गये थे; अतएव इस बीच कला और साहित्य की वृद्धि का कोई सुगठित प्रयत्न नहीं हुआ। हाँ, इस काल में वीरकाव्य की रचना अवश्य हुई। चारणों की भाषा "डिंगल" और विद्वान कवियों की भाषा "पिंगल" कहलाती थी। इस प्रकार की भाषा का युग लगभग संवत् १३७५ तक चला। इसके बाद हिन्दी के विकास का मध्ययुग आया, जिसके दो मुख्य खंड माने जाते हैं—एक संवत् १३७५ से १७०० तक और दूसरा संवत् १७०० से १६०० तक। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—"प्रथम भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियाँ बदलकर ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं और दूसरे भाग में उसमें प्रौढ़ता आती है तथा अंत में अवधी और ब्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है और काव्य-भाषा का एक सामान्य सा दृश्य खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनैतिक स्थिति डँवाडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आयी, जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डँवाडोल हो गई। हिन्दी के विराम की चौथी अवस्था संवत् १६०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिन्दी गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ और खड़ी बोली का प्रयोग हिन्दी गद्य और पद्य दोनों में होने लगा।"

हिन्दी का यह काल आधुनिक काल कहलाता है. जिसमें खड़ी बोली की केवल उत्पत्ति ही नहीं हुई वरन् उसका प्रभुत्व छा गया। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि हिन्दी के विकास के मध्ययुग का जो पहला खंड सवत् १३७५ से १७०० तक माना जाता है, वह खड तुलसी, सूर, रहीम आदि हिन्दी के महाकवियों की रचना का काल था, तानसेन के सदृश गायक भी इसी काल में हुए। इस युग में अकबर से लेकर शाहजहाँ तक का शासन काल भी राजनैतिक स्थिरता का काल था एवं हर प्रकार की कला और साहित्य रचना का समय। संस्कृत में बहुत पहले नाटकों का विकास भी अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था, परन्तु ऐसे काल में भी हिन्दी ही नहीं, भारत की आधुनिक किसी भी भाषा में, जिसे प्राचीन संस्कृत नाटकों अथवा आधुनिक काल के नाटकों के सदृश नाटक कहा जा सके, ऐसे नाट्य साहित्य की रचना नहीं हुई। इस देश में हिन्दी और देश की आधुनिक अन्य भाषाओं में, जिसे प्राचीन संस्कृत नाटकों की परम्परा अथवा आधुनिक काल में नाटक कहा जा सकता है, ऐसे नाटकों की रचना फिर आरम्भ होती है हिन्दी के भारतेन्दु युग के आसपास

से, यद्यपि पश्चिम में इसी काल में इंगलैण्ड में शेक्सपियर और फ्रांस में मोलेयर के सदृश नाटककार हुए। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली आदि में विद्यापति का "गोरस विजय" और "रुक्मिणी हरण", आचार्य केशवदास का "विज्ञान गीता", निवाज कवि का "शकुन्तला नाटक", हृदयराम का "हनुमन्त नाटक", महाकवि देव का "देव माया प्रपंच नाटक" और राजा लक्ष्मणसिंह का अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद "शकुन्तला नाटक" आदि यत्र-तत्र कुछ नाटक लिखे गये, परन्तु ये नाटक, शकुन्तला को छोड़, एक तो साहित्यिक दृष्टि से नाटक कहे ही नहीं जा सकते, और राजा लक्ष्मणसिंह का "शकुन्तला" कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का शाब्दिक अनुवाद है, दूसरे ये नाटक किसी विशिष्ट परंपरा में नहीं हैं।

हिन्दी का पहला नाटक "नहुष" माना जाता है, जिसकी रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गिरधरदास ने सन् १८५९ में की थी। परन्तु हिन्दी नाटक की सच्ची परम्परा का आरम्भ भारतेन्दु ने किया और वे ही हिन्दी के प्रथम नाटककार माने जाते हैं। भारतेन्दु का जन्म सन् १८५० में हुआ और वे केवल ३३ वर्ष की अवस्था तक जीवित रहे। उन्होंने "कालचक्र" नामक अपनी पुस्तक में लिखा है "हिन्दी नयी चाल में सन् १८७३ में ढली।" और जब हिन्दी नयी चाल में ढली तभी हिन्दी में तथा इसी काल के आसपास भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में आधुनिक ढंग के नाट्य साहित्य की रचना हुई। भारतेन्दु ने मौलिक और अनूदित दोनों प्रकार के नाटक लिखे। उनका पहला मौलिक नाटक है "विषस्य विषमौषधम्" जो उन्होंने सन् १८७६ में लिखा। इसके बाद उन्होंने "चन्द्रावली", "भारत दुर्दशा", "नीलदेवी" आदि अनेक मौलिक नाटकों की रचना की। उनके अनूदित नाटक हैं "विद्या सुन्दर", "पाखंड-विडम्बना", "धनंजय विजय", "कर्पूर मंजरी", "मुद्राराक्षस", "सत्य हरिश्चन्द्र", "भारत जननी" आदि। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटकों के मानदण्ड को भी स्थिर किया और रंगमंच के विकास के लिए भी अनेक प्रयत्न किये।

भारतेन्दु पर संस्कृत के नाट्य साहित्य, बंगला के नाट्य साहित्य, और अंग्रेजी के नाट्य साहित्य तीनों का ही गहरा असर पड़ा। इसके अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारत की जाग्रति के नवीन युग का आरम्भ भी भारतेन्दु के समय में ही हुआ। अतएव कोई भी सजग कलाकार अपने युग की इन परिस्थितियों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। भारतेन्दु ने दुहरा कार्य किया—

पहला कला की दृष्टि से, दूसरा बंगला नाट्य कला से सजीव तत्त्वों को ग्रहण कर हिन्दी की अपनी नाट्य कला का विकास तथा हिन्दी के नाट्य साहित्य को तत्कालीन जन-जीवन से मिश्रित करने का कार्य। भारतेन्दु का ध्यान दोनों ओर ही रहा, किंतु उनकी महानता की कसौटी उनका दूसरा कार्य ही है, क्योंकि सफल नाटककार होने पर भी उनके नाटकों में बहुत गहरायी नहीं है।

भारतेन्दु ने नाटक की कला को सामाजिक उपयोगिता और जागरण के उद्देश्यों के अनुरूप ढाला, साथ ही कला को प्रचार एवं उपदेशवाद के भार से भी मुक्त रखा। उनकी शैली सरल एवं सरस है, उनके पात्र सजीव, इसी धरती के हैं। एक ओर तो उन्होंने प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों से अनुप्राणित होकर नाट्य रचना की, जैसे "सत्य हरिश्चन्द्र" आदि, दूसरी ओर उन्होंने अपने युग की विषमताओं को सफलता के साथ व्यक्त किया। भारतेन्दु ने अपने नाटकों के द्वारा हिन्दी में नाट्य परम्परा की नींव ही नहीं डाली, और प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों पर समान अधिकार, सफलता और शक्तिमत्ता के साथ नाटकों की रचना कर भारत की सांस्कृतिक परम्परा की अखंडता की प्रतिष्ठा ही नहीं की वरन् देश के सांस्कृतिक जीवन को उसकी समग्रता के आलोक में जनता के सामने रखकर उसे देश-प्रिय और राष्ट्रीयता की उमंग एवं उच्छ्वास से भी भरा।

कला की दृष्टि से देखने पर भी भारतेन्दु में विविधता पायी जाती है। इस दृष्टि से उनकी कला के तीन रूप दिखायी देते है—

१–संस्कृत नाट्य कला से प्रभावित रूप।
२–संस्कृत और नवीन नाट्य कला का समन्वित रूप।
३–नवीन कला जिसे मौलिक कला भी कह सकते हैं।

भारतेन्दु युगीन नाटककारों में श्री देवकीनन्दन त्रिपाठी, श्री दामोदर शास्त्री, श्री प्रतापनारायण मिश्र, श्री सीताराम वर्मा, श्री श्रीनिवासदास, श्री किशोरीलाल गोस्वामी, श्री राधाकृष्णदास, श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन,' श्री शालिगराम वैश्य, लाला काशीनाथ खत्री, श्री निद्धिलाल मिश्र, श्री कार्त्तिकप्रसाद खत्री, श्री श्रीशरण, श्री जैनेन्द्रकिशोर, श्री अनन्तराम पांडे, लाला खंग बहादुर मल्ल, और श्री गोविन्द आदि हैं। इन लोगों ने सामाजिक दुर्गुणों

एवं रूढ़ियों के प्रति विद्रोही भावना भी नाटकों में प्रस्तुत की है और रोमांस प्रधान नाटक भी लिखे हैं, क्योंकि इसी युग में पारसी नाटक कम्पनियाँ भी पनपीं। उस युग के प्रहसन लेखकों में पंडित बालकृष्ण भट्ट, श्री राधाचरण, गोस्वामी, चौधरी नवसिंह तथा श्री गोपालराम गहमरी हैं।

हिन्दी नाटकों के क्षेत्र में एक समय अनुवादों का भी रहा है। राजा लक्ष्मणसिंह ने, जैसा कहा जा चुका है, भारतेन्दु युग से पूर्व कालिदास कृत "अभिज्ञान शाकुन्तल" का अनुवाद किया था। यह हुआ था सन् १८६१ में। लाला सीताराम ने भवभूति के "महावीर चरित्र" का १८७७ में तथा 'मालती माधव" का १८९८ में और शूद्रक के "मृच्छकटिक" का १८९९ में अनुवाद प्रस्तुत किया। प्रायः इसी समय श्री बालमुकुन्द गुप्त ने "रत्नावलि" का और श्री ज्वालाप्रसाद मिश्र ने "वेणीसहार" का अनुवाद किया। अंग्रेजी के नाटकों का भी अनुवाद किया गया जिनमें शेक्सपियर कृत "कामेडी ऑफ एरर्स", "मर्चेण्ट ऑफ वेनिस", "ऐज यू लाइक इट" आदि का अनुवाद भी प्रस्तुत हुआ। लाला सीताराम ने १८७९ में एडिसन के "कैरो" नामक नाटक का अनुवाद किया। बंगला से श्री रामकृष्ण वर्मा, श्री उदित नारायण वकील, श्री केशवराम भट्ट आदि ने श्री माइकिल मधुसूदन दत्त, श्री मनमोहन वसु आदि के नाटकों के अनुवाद किये। बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में भी अनुवाद पर्याप्त रूप में सामने आये। संस्कृत के अनुवाद करने वालों में श्री सत्यनारायण कविरत्न, बगला से श्री गोपालराम गहमरी और श्री रूपनारायण पांडे आदि प्रमुख हैं। श्री सत्यनारायण कविरत्न ने "मालती माधव" "उत्तर रामचरित" का अनुवाद किया। गहमरी जी ने "देश दशा" "बनवीर विद्या-विनोद", "चित्रांगदा" का अनुवाद प्रस्तुत किया। श्री रूपनारायण पांडे ने "भारत रमणी", "नूरजहाँ" "पाषाणी" "दुर्गादास" आदि का अनुवाद किया।

प्रथम युद्ध के समाप्त होने पर हिन्दी में मौलिक चिन्तन प्रधान नाटकों की रचना में श्री जयशकर प्रसाद का नाम लिया जाता है। प्रसाद जी को उनके काल में हिन्दी के यदि सर्वश्रेष्ठ कवियों में एक कवि कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। संसार का सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पुरस्कार आज "नोबेल प्राइज" माना जाता है। मैंने नोबेल प्राइज प्राप्त अधिकांश कवियों के काव्य को पढ़ा है। इनमें से अनेक प्रसाद जी के सम्मुख फीके जचते है। परन्तु

प्रसाद जी के नाटकों को नाटक कहना कठिन है। प्रसाद जी के नाटक सच्चे नाटक न हो यथार्थ में काव्य हैं। नाटक की वस्तु अर्थात् कथा एकदम चुस्त होना चाहिए। प्रसाद जी के नाटकों की कथा अत्यन्त ढीली है। नाटक का चरित्र-चित्रण तब सफल होता है जब उसमें प्रधान पात्र कम से कम हों, क्योंकि नाटक का विस्तार एक सीमा तक ही हो सकता है। प्रसाद जी के नाटकों में पात्रों की ऐसी भरमार रहती है कि प्रधान चरित्रों का भी विकास नहीं हो पाता। फिर उनकी भाषा काफी कठिन रहती है जो कवितासौष्ठव तो बढ़ाती है, परन्तु कथोपकथन में जो बोल-चाल की भाषा आवश्यक होती है उससे कहीं कठिन पड़ती है। ऐसी भाषा का प्रयोग नाटक में कहाँ तक उचित है, इस विषय को लेकर साहित्यिकों में काफी विवाद होता रहा है। इस विवाद में प्रसाद जी ने भी अपना मत व्यक्त किया है। उनका दृढ़ मत है कि किसी भी नाटक की लोकप्रियता और सफलता का आधार भाषा की सरलता नहीं, अभिनय की पूर्णता और प्रभाव की सघनता है। उनके मत में कोई तथ्य नहीं, यह मेरा कहना नहीं है, परतु प्रभाव की जिस सघनता के सम्बन्ध में प्रसाद जी कहते हैं वह प्रभाव की सघनता भी उनके नाटकों में इसलिए नहीं हो पाती कि उनके नाटकों में एक-एक अक में दृश्यों की ऐसी भरमार रहती है, और अधिकांश दृश्य इतने छोटे-छोटे रहते हैं, तथा उनमें पात्रों का इस प्रकार प्रवेश और प्रस्थान होता है, कि वे प्रभावहीन हो जाते हैं। जो नाटक रंगमंच पर नहीं लाये जा सकते और नाटक की टेकनीक के अनुसार लिखे जायें वे भी नाटक संज्ञा में आते हैं, परन्तु जो नाटक रंगमंच पर भी सफलता-पूर्वक खेले जा सकते हैं वे ही सच्चे नाटक हैं। प्रसाद जी के कोई भी नाटक रगमंच पर सफल नहीं हो पाये हैं।

अतः मैं तो प्रसाद जी को नाटककार ही नहीं मानता, महान् कवि अवश्य मानता हूँ। एक समय था जब अंग्रेजी में विषयवार साहित्य-विभाजन में 'पोइट्री एंड ड्रामा" कविता और नाटक साथ-साथ जाते थे। उस काल में प्रसाद जी नाटककार भी माने जा सकते थे, परन्तु आज कविता और नाटक एक ही विभाग में नहीं आते; अतः आज प्रसाद जी नाटककार नहीं माने जा सकते। मेरा विश्वास है कि कुछ समय पश्चात् जब इस काल के नाट्य साहित्य का मूल्यांकन होगा, तब अधिकांश विद्वान मुझसे सहमत मिलेंगे।

नवीन रूप में और नये नाटक विन्यास में पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र',

श्री हरिकृष्ण प्रेमी, श्री उदयशंकर भट्ट, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, डा० रामकुमार वर्मा, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री जगदीशचन्द्र माथुर आदि ने और प्रस्तुत वक्ता ने भी योग दिया है। इस युग के नाटककारों ने संस्कृत नाटकों की शास्त्रीय एवं पाश्चात्य नाटकों की कलात्मकता का समन्वय किया है और क्रमशः नाट्य विन्यास सम्बन्धी शास्त्रीय पद्धति के कुछ अंशों से मुक्ति भी प्राप्त की है। उदाहरण के लिए नांदी पाठ और प्रस्तावना को बहिष्कृत कर दिया। अन्य तत्त्वों को और भी मनोवैज्ञानिक बनाने की चेष्टा की।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने भी "कृष्णार्जुन युद्ध" नामक एक नाटक लिखा था, परन्तु इसके बाद उनका कोई नाटक नहीं आया; अतः उनकी गणना कवियों मे ही की जानी चाहिए। महाकवि अयोध्यासिंह जी उपाध्याय 'हरिऔध', राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त, मुंशी प्रेमचन्द जी और श्री वृन्दावनलाल जी वर्मा ने भी कुछ नाटकों की रचना की है। उपाध्याय जी और मैथिली शरण जी हिन्दी में द्विवेदी युग के श्रेष्ठतम कवियों में है। सामाजिक कहानियों और उपन्यासों के क्षेत्र में हिन्दी में प्रेमचन्द जी का मुकाबला कोई भी कहानीकार या उपन्यासकार नहीं कर सकता। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में श्री वृन्दावनलाल वर्मा का स्थान बेजोड़ है परन्तु चारों ही महानुभाव चोटी के साहित्यकार होते हुए भी नाटककार के रूप में सर्वथा असफल हुए हैं।

सम्पूर्ण नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी में एकांकी एक नयी शैली में प्रस्तुत हुआ और कहा जाता है कि इसका प्रवर्तन डा० रामकुमार वर्मा ने सन् १९३० में प्रकाशित होनेवाले "बादल की मृत्यु" से किया। लेकिन इसके पूर्व श्री भुवनेश्वर प्रसाद ने एकांकी लिखे थे। हिन्दी में प्रमुख एकांकीकार हैं श्री भुवनेश्वर प्रसाद, डा० रामकुमार वर्मा, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र, श्री जगदीशचन्द्र माथुर, श्री विष्णु प्रभाकर, श्री धर्मवीर भारती, श्री चिरंजीत, श्री भारतभूषण अग्रवाल, श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी, श्री गोविन्दवल्लभ पन्त, श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, श्रीचन्द्रगुप्त विद्यालंकार, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, प्रो० जयनाथ नलिन आदि। इनके सिवा भी अनेक लोगों ने एकांकी और ध्वनि नाटक लिखे हैं। प्रस्तुत वक्ता ने भी एक लम्बी संख्या में विविध स्वरूपों में एकांकियों की रचना की है।

हिन्दी एकांकियों के भविष्य के सम्बन्ध में जब हम विचार करते हैं

तो यह स्पष्ट देखते हैं कि विषय की दृष्टि से यह अनेक विचार धाराओं का मुहनाला बन गया है। मानवता से पूर्ण शाश्वत सत्य का अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यदि हम विशुद्ध मानवीय वृत्तियों को संवेदना के आधार पर अभिव्यक्ति दें तो इस विधि के माध्यम से सम्पूर्ण देश के जन-जीवन पर प्रभाव पड़ सकता है।

इधर हिन्दी में आधुनिक ढंग पर एकांकी के साथ ही एक पात्री नाटकों की रचना भी हुई है। कहा जाता है यह आरम्भ प्रस्तुत वक्ता द्वारा हुआ है। जहाँ तक एक पात्री नाटकों का सम्बन्ध है, हिन्दी को छोड़ किसी भी भारतीय भाषा में शायद ही एक पात्री नाटक की रचना हुई हो। मैं व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूँ कि इनकी सफल रचना और सफल अभिनय अत्यन्त कठिन है। परन्तु यदि यह रचना ठिकाने की हो, और अभिनय भी ठिकाने का, तो एक पात्री नाटक अत्यधिक प्रभावशाली होता है।

उर्दू नाटक

उर्दू भाषा कोई विदेशी भाषा नहीं है। उसका जन्म और विकास दोनों ही भारत देश में हुए। फिर हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं का व्याकरण भी एक ही है; इसीलिए हम लोग तो उर्दू भाषा को कोई पृथक् भाषा न मानकर हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं। इस मत में काफी विवाद है। कुछ उर्दू के प्रेमी तो यहाँ तक कहते हैं कि हमारा यह मत उर्दू भाषा के अस्तित्व को ही नष्ट करने के लिए है, परन्तु यथार्थ बात यह नहीं है। हम लोग जो उर्दू को हिन्दी की ही एक शैली मानते हैं वह उर्दू से द्वेष के कारण नहीं, किन्तु उर्दू की भक्ति के कारण। उर्दू को हिन्दी की एक शैली मान लेने से हमारी उर्दू के लिए भी उतनी ही भक्ति हो जाती है जितनी हिन्दी के लिए। जो कुछ हो, हमारे संविधान में हमारे देश की जो १४ प्रधान भाषाएँ मानी गयी हैं उनमें उर्दू भी एक है। इसीलिए जिस हिन्दी का उर्दू से सबसे अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है उसी उर्दू भाषा के नाट्य साहित्य के सम्बन्ध में हिन्दी के बाद मैं सबसे प्रथम यहाँ कुछ कह रहा हूँ।

कहा जाता है, शाह फर्रुखसियर के समय नमाज नामक कवि ने उर्दू में कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का अनुवाद किया था, किन्तु वह अप्राप्य है।

उर्दू भाषा में सबसे पहला नाटक "इन्दर सभा" मिलता है, जो सैय्यद मीर आगाहसन अमानत ने लिखा था । इसकी रचना सन् १८५० ईस्वी में हुई थी । उस समय अवध पर वाजिद अली शाह का राज्य था । इस नाटक के अभिनय के लिए फ्रांस देश के एक निर्देशक की देखरेख में कैसर बाग में एक रंगमंच बना था । लगभग पचास वर्ष तक, वरन् इसके बाद भी कुछ काल तक उर्दू का यह नाटक जितना लोकप्रिय रहा उतना उस काल का शायद किसी भी भाषा का कोई नाटक नहीं । इसके उर्दू और देवनागरी लिपि में चालीस पचास संस्करण हुए । कुछ अन्य भारतीय तथा विदेशी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ । यद्यपि "इन्दर सभा" में जीवन की कोई विशेष समस्या या किसी गम्भीर विषय का विवेचन अथवा अन्य कोई नाटकीय विशेषताएँ नहीं हैं तथापि उस काल के शाही दरबार का इस नाटक में एक सुन्दर चित्र है ।

इसके बाद जब पारसी नाटक कम्पनियों के दौर दौरा का समय आया तब उन कम्पनियों में, अभिनय के लिए अनेक नाटककारों ने उर्दू में नाटकों की रचना की । इन नाटकों में शेक्सपियर के नाटकों के अनुवादों की बहुतायत थी और उनके अजीब नाम होते थे; जैसे—'रोमियो जूलियट" का नाम "बज्मेंफानी", "विन्टर्सटेल" का नाम "मुरीदेशक", "हेम्लेट" का नाम "खूने नाहक", "किंगलियर" का नाम "सफेद खून" । अनुवादों के सिवा उर्दू में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये जैसे—"हरिश्चन्द्र", "गोपीचन्द", "गंगावतरण" "रामायण", "महाभारत" इत्यादि । इन नाटककारों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही हुए । इनमें सबसे प्रसिद्ध थे आगा हश्र काश्मीरी, पंडित नारायण प्रसाद बेताब, मुहम्मद मियाँ रौनक बनारसी, तालिब अहसान लखनवी आदि ।

आधुनिक काल में कुछ और भी उर्दू के अच्छे नाटककार हुए और इनके नाटकों का काफी प्रचार भी हुआ । इन्तियाज अली "ताज" के "अनारकली" नाटक की काफी ख्याति हुई जो सन् १९३२ में प्रकाशित हुआ । इसी प्रकार प्रोफेसर मोहम्मद मुजीब के "खेती" नामक नाटक ने काफी प्रसिद्धि पायी । इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में श्री इस्ताक हुसैन कुरेशी, डा० आबिद हुसैन, श्री अहमद सुजा, श्री साहिद अहमद दहलवी, श्री आबिद अली आबिद, श्री फजल हक कुरेशी, श्री मिन्टो, श्री मिर्जा अदीब, श्री मुहम्मद हुसैन,

श्री शौकत थानवी आदि भी उर्दू के अच्छे नाटककार माने जाते हैं। परन्तु, इनमें से अधिकतर महानुभावों के नाटक पूरे नाटक न होकर एकांकी नाटक और रेडियो नाटक हैं। साथ ही साहित्यिक दृष्टि से इनका कितना स्थायी महत्त्व है, यह आज नहीं कहा जा सकता।

सिनेमा के उदय के साथ पारसी नाटक कम्पनियों की प्राय: समाप्ति हो गयी, जहाँ अधिकांश नाटक खेले जाते थे। कुछ समय पूर्व बम्बई में पृथ्वी-राज और उनके साथियों ने एक नये रंगमंच की स्थापना की जिसके लिए "पठान" "दीवार" आदि कुछ उर्दू नाटक लिखे गये। अभिनय की दृष्टि से उर्दू नाटक शुरू से ही काफी सफल रहे हैं परन्तु साहित्यिक दृष्टि से नहीं।

बंगला नाटक

बंगला भाषा भारत की आधुनिक भाषाओं में अत्यन्त समृद्ध भाषा मानी जाती है। क्यों न हो ? जिस भाषा में महाकवि माइकिल मधुसूदन दत्त और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सदृश महान् कवि, गिरीश घोष और द्विजेन्द्र लाल राय के समान महान् नाटककार, बंकिम बाबू और शरद बाबू के सदृश महान् उपन्यासकार हुए हों उस भाषा की समृद्धि का क्या पूछना !

बंगला भाषा की उत्पत्ति उत्तर भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं के साथ ही मागधी प्राकृत भाषा से ग्यारहवीं शताब्दी में हुई। परन्तु, बंगला भाषा का नाट्य साहित्य बहुत पुराना नहीं है। हाँ, बंगाल में पहले कुछ संस्कृत नाटकों की रचना अवश्य हुई थी। यह कथा प्रचलित ही है कि बंगाल के शासक आदि सूर अपने राजसूय यज्ञ के अवसर पर कान्यकुब्ज देश से पाँच ब्राह्मण और पाँच कायस्थों को लाये थे। इन ब्राह्मणों में "वेणीसंहार" नाटक के लेखक श्री भट्ट नारायण भी थे। अतः बंगाल का पहला नाटक "वेणीसंहार" ही माना जाता है। दूसरा नाटक महाकवि जयदेव कृत "प्रसन्न-राघव" है। फिर, "गीतगोविन्द" की रचना भी बंगाल में ही हुई।

बंगाल में कृष्ण और दुर्गा की पूजा बहुत प्राचीन काल से होती आयी है। इन पूजाओं के लिए कुछ विशिष्ट स्थलों और मंदिरों में भक्तों की यात्राएँ होती थीं। इन यात्राओं में "जात्रा" नामक नृत्य और कीर्तन होता था। इस नृत्य और कीर्तन में कुछ संवाद भी जुड़े रहते थे। इस जात्रा को

आधुनिक दृष्टि से चाहे नाटक न कहा जा सके पर इसमें नाटकीय तत्त्व अवश्य विद्यमान थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के समय इस जात्रा नाट्य प्रणाली का और विकास हुआ। जात्रा में स्वयं चैतन्य भी अभिनय किया करते थे। एक बार चैतन्य ने इस अभिनय में श्री रुक्मिणीजी का काम किया। इसे देखने उनकी माँ श्री शची देवी जी और उनकी पत्नी श्री विष्णुप्रिया भी गयी थीं। इस अभिनय ने दर्शकों को तल्लीन कर दिया और श्री शची देवी जी तो मूर्छित ही हो गयीं। श्री चैतन्य के पश्चात् उनके शिष्य श्री रूप गोस्वामी ने "विदग्ध माधव" और "ललित माधव" नामक दो नाटक भगवान श्रीकृष्ण के चरित्र पर किये; परन्तु यह सभी साहित्य संस्कृत भाषा का है।

बंगला भाषा का प्रथम काव्य "श्रीकृष्ण कीर्तन" श्री चण्डीदास ने रचा। इस काव्य में अनेक नाटकीय स्थल भी हैं, जिनमें अनेक संवाद आये हैं और इन संवादों मे व्यंग का यथेष्ट पुट है। ये संवाद नाटकीयता से ओत-प्रोत हैं। इस काव्य की रचना पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुई। मध्य-युग के बगला साहित्य का रूप काव्यमय है। इन काव्यों में हमें "मनसा" और "चाँद सौदागर का झगड़ा" आदि कुछ ऐसे हास्य रस के काव्य मिलते हैं, जो पूर्ण रूप से नाटकीय हैं। रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि की कथाओं पर भी कुछ नाटकीय उपाख्यान लिखे गये। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में तो बंगाल का यह साहित्य नेपाल तक पहुँचा और फिर नेपाल में बंगला भाषा में कुछ नाटकों का निर्माण हुआ, जिनमें नेपाली भाषा का सम्मिलन था।

बंगला भाषा के आधुनिक नाट्य साहित्य और रंगमंच का साथ-साथ ही विकास हुआ; यह अठारहवीं शताब्दी के अन्त में। इस पर संस्कृत नाट्य साहित्य के साथ अंग्रेजी नाट्य साहित्य और रंगमंच का भी कम प्रभाव न था। बंगला का प्रथम मौलिक नाटक श्री भारत चन्द्र ने रचा। इसका नाम "विद्या सुन्दर" है। इस नाटक की रचना सन् १७६० में हुई थी। इसके दो दशाब्दियों बाद नदिया के पंडित श्री विद्यानाथ वाचस्पति भट्टाचार्य का नाटक 'चित्रयज्ञ" नामक मिलता है। यह शायद बंगला भाषा का दूसरा नाटक है। परन्तु, इन नाटकों के अभिनय के पहले बंगला भाषा में जिस नाटक का अभिनय हुआ वह अंग्रेजी के एक नाटक का बंगला अनुवाद था। यह शायद पहला बंगला नाटक था जो रंगमंच पर आया। इसका निम्न इतिहास

है। पलासी के युद्ध के बाद बंगाल से ही अंग्रेजी राज्य भारत पर फैला। पहले कलकत्ते में "प्ले हाउस" नामक एक अंग्रेजी रंगमंच की स्थापना हुई और इसके बाद सन् १७७६ ईस्वी में "कलकत्ता थियेटर" के नाम से एक रंगमंच का निर्माण हुआ। इन रगमंचों पर पहले अंग्रेजी के नाटक होते थे। इन नाटकों से प्रेरित हो रूस के श्री हेरेसिम लेबेदेफ नामक एक व्यक्ति को बंगला भाषा में नाटक खेलने की बात सूझी और श्री लेबेदेफ ने बाबू गोलोकनाथदास नामक एक बंगाली महाशय की सहायता से अंग्रेजी के दो नाटकों का बंगला अनुवाद किया। इन नाटकों के नाम थे—"दि डिस्गाइस" और "लव इज दि बेस्ट डाक्टर"। श्री लेबेदेफ ने सन् १७९५ में "दि डिस्गाइस" का बंगला भाषा में अभिनय कराया, जो सन् १८०१ में उनकी जो "सस्कृत ग्रामर" नामक पुस्तक लन्दन में प्रकाशित हुई उसकी भूमिका में लिखा है। इस नाटक का अभिनय श्री लेबेदेफ की रगशाला "न्यू थियेटर" में हुआ था और उसमें पुरुषों और स्त्रियों दोनों ने अभिनय किया था। इसके बाद बंगाल में अनेक रंगमंचों की स्थापना हुई। इन रंगमंचों पर संस्कृत और अंग्रेजी के शेक्सपियर के अनूदित नाटकों तथा बंगला भाषा के नाटकों का भी अभिनय आरम्भ हुआ। सबसे पहले बंगला भाषा के जिस मौलिक नाटक का अभिनय हुआ वह शायद "विद्या सुन्दर" था। सन् १८५४ में श्री रामनारायण तर्करत्न ने "कुलीन कुल सर्वस्व" नाटक की रचना की। यह बंगला भाषा का पहला सामाजिक नाटक है। सन् १८५६ में इसका अभिनय भी हुआ और इसकी बहुत प्रशंसा हुई।

इसके पश्चात् बंगाल के नाटक साहित्य में वह युग आता है जिसमें देशभक्ति पूर्ण नाटकों की रचना और अभिनय हुआ। इस युग के प्रवर्त्तक थे बाबू दीनबंधु मित्र। सन् १८६० में उन्होंने "नील दर्पण" नामक नाटक की रचना की जिसमें गोरों द्वारा एक बंगाली लड़की पर किये गये अत्याचारों का वर्णन है। यह नाटक कुछ सत्य घटनाओं पर लिखा गया था। "नील दर्पण" नाटक के कारण उस युग का नाम भी बंगला नाटक साहित्य में दीनबन्धु युग पड़ गया। इस नाटक का भी रेवरन्ड जेम्स लांग ने महाकवि माइकिल मधुसूदन दत्त से अंग्रेजी में अनुवाद कराया और स्वयं उसकी भूमिका लिखी। इस नाटक की कुछ प्रतियाँ इंगलैण्ड भेजी गयीं। सन् १८६१ में रेवरन्ड लांग पर मुकद्दमा चला और उन्हें एक महीने की जेल तथा एक हजार रुपया जुर्माने का दण्ड दिया गया। इसके कारण "नील दर्पण" नाटक

सारे देश में प्रसिद्ध हो गया और उसके सम्बन्ध में कुछ गीत सारे भारत में गाये जाने लगे। एक गीत का कुछ अंश यहाँ उद्धृत करना अनुचित न होगाः—

असमये हरीश मालो,
लांगेर होइलो कारागार।
नील बांदरे सोनार बांगला,
काल्लो भाए चारखार।

दीनबन्धु मित्र का "सधबार एकादशी" भी बंगला साहित्य का बहुत प्रसिद्ध नाटक है। इसके सिवा भी उन्होंने अनेक सामाजिक नाटकों की रचना की। इस काल में बंगाल में नाट्य साहित्य और अभिनय दोनों का इतना प्रभाव बढ़ा कि सन् १८७६ में सरकार ने "ड्रेमेटिक परफारमेन्सेज" नामक एक कानून बनाया, जो केवल बंगाल में ही लागू न होकर समस्त भारत पर लागू किया गया और इसके अन्तर्गत अनेक नाटकों और रगमचों पर प्रहार भी हुए। लगभग ८० वर्षों के पश्चात् यह कानून रद्द हुआ है।

इसके बाद श्री गिरीशचन्द्र घोष और उनके रगमंच "स्टार थियेटर" का समय आता है। श्री गिरीश घोष नाटककार के साथ अभिनेता भी थे। उनका रंगमंच "स्टार थियेटर" सन् १८८३ में आरम्भ हुआ और उस पर उनके तथा अन्य अनेक नाटककारों के नाटकों का अभिनय। गिरीश बाबू यों तो प्रधानतया सामाजिक नाटककार थे और उनका "प्रफुल्ल" सामाजिक नाटक बंगला साहित्य के आधुनिक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ नाटकों में एक है, तथापि महाप्रभु चैतन्य के जीवनी पर उन्होंने जो "चैतन्य लीला" नाटक लिखा वह भी कम प्रसिद्ध नहीं है। गिरीश बाबू ने अस्सी नाटक लिखे हैं। इस काल के बंगला भाषा के श्री अमृतलाल बसु और क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद भी प्रसिद्ध नाटककार हैं। अमृतलाल बसु तो गिरीशचन्द्र घोष के सदृश ही नाटककार और अभिनेता दोनों ही थे। अमृतलाल बसु के कुछ प्रहसन बंगला साहित्य की स्थायी सामग्री हैं। इनमें प्रमुख हैं "विवाह विभ्राट्","ग्राम्य विभ्राट्" एवं "बाबू"। क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद के नाटको में पौराणिक नाटक प्रधान है। इन नाटकों में "रघुवीर" और "भीष्म" का सर्वोच्च स्थान है। इसके पश्चात् द्विजेन्द्रलाल राय का समय आता है। राय महोदय ने अधिकतर ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं। उनके "चन्द्रगुप्त", "मेवाड़ पतन",

"नूरजहाँ", "शाहजहाँ","दुर्गादास" आदि अनेक प्रसिद्ध नाटक हैं। दो सामाजिक नाटकों की भी उनने रचना की है, जिनके नाम हैं—"पारा पारे" और "बंग-नारी"। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में यहाँ तक कि दक्षिण भारत की भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है और वे बंगाल तथा भारत के विभिन्न राज्यों में बड़ी सफलतापूर्वक खेले भी गये हैं।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अनेक नाटकों की रचना की है, जिनका अब तो विश्व साहित्य में स्थान हो गया है। परन्तु रवीन्द्र बाबू यथार्थ में कवि थे, नाटककार उसके बाद।

आधुनिक काल में बंगाल के "जन नाट्य संघ" ने भी इस क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य किया है। इस संघ के श्री मनोरंजन भट्टाचार्य और श्री विजन भट्टाचार्य ने बंगाल के दुष्काल की कथा को सन् १९४४ में नाट्य साहित्य में प्रस्तुत किया है, जो नाटक रंगमंच पर भी सफलतापूर्वक खेले गये हैं। श्री विजन भट्टाचार्य के "नवान्न" नाटक ने बंगला भाषा के आधुनिक नाट्य साहित्य में हलचल सी मचा दी है।

इन भट्टाचार्य द्वय के पश्चात् भी बंगला भाषा में नाटकों का निर्माण हो रहा है, आजकल के बंगला भाषा के ख्यातिनामा नाटककार हैं श्री शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त, श्री मन्मथ राय, श्री दिगिन बेनर्जी, श्री सलिल सेन, श्री किरण राय, श्री गिरिशंकर आदि।

असमिया नाटक

जब असम प्रान्त को असम के बाहर के लोग आसाम कहते हैं और असमिया भाषा को आसामी भाषा, तब असम के लोग बहुत क्षुब्ध हो जाते हैं। उनके प्रान्त का ठीक नाम असम है और उनकी भाषा का नाम असमिया।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में असमिया भाषा का नाट्य साहित्य शायद सबसे पुराना है। असम में भी पहले देवालयों में संगीत और नृत्य के साथ अभिनय होता था। इसे "भावना" कहते थे। ये "भावना नाटक" वहाँ के नाटकों के प्रथम रूप हैं।

असमिया भाषा के प्रथम नाट्यकार श्री शंकरदेव माने जाते हैं। वे

नाटककार के साथ ही चित्रकार भी थे। उनका जन्म सन् १४४६ में हुआ। वे एक सौ उन्नीस वर्ष तक जीवित रहे। बंगाल की "जात्रा" नाट्य प्रणाली के सदृश शंकरदेव के समय असम में "जात्रा" नाट्य प्रदर्शनों का उल्लेख मिलता है। शंकरदेव ने अपना पहला नाटक उन्नीस वर्ष की अवस्था में लिखा था, यह कहा जाता है। इस नाटक का विषय था "स्वर्ग और देवता"। इस नाटक के नाम का ठीक पता नहीं लगता, परन्तु इस नाटक से संबंध रखने वाले चित्र शंकरदेव ने बनाये थे, जिनमें सातों बैकुंठों को पट पर चित्रित किया था और उन चित्रों के अनुसार नर्त्तक तैयार किये थे। यह नाटक अब अप्राप्य है। इसका उन्होंने नाम क्या रखा था, यह भी ज्ञात नहीं, परन्तु असमिया भाषा के एक विद्वान श्री रामचरण ठाकुर ने शंकरदेव की जो जीवनी लिखी है उसमें उपर्युक्त वर्णन आया है। इसके बाद शंकरदेव ने सन् १५२० के लगभग अपना दूसरा नाटक "कालीदमन" लिखा। इसकी कथा कृष्ण द्वारा काली दह में कालीनाग के नाथने की है। यह नाटक तथा शंकरदेव के अन्य पाँच नाटक और भी मिले है। ये सभी नाटक पौराणिक हैं और इनमें पद्यों की बहुतायत है। आधुनिक भारतीय भाषाओं के नाट्य साहित्य में ये नाटक शायद सबसे पुराने हैं। असमिया भाषा में इन्हें "अंकिया नाट" कहा जाता है। ये "अंकिया नाट" एक अंक के होते हैं और संस्कृत के एकांकी नाटकों से मिलते जुलते हैं। परन्तु इनमें एक नयी बात रहती है। इनका सूत्रधार केवल नान्दी पाठ और प्रस्तावना का भाषण ही नहीं करता, परन्तु आरंभ से अंत तक रंगमंच पर रहकर नाटक की घटनाओं और पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि का परिचय भी कराता रहता है। मैंने जापान के प्रसिद्ध "काबुकी" रंगमंच में सूत्रधार के इस प्रकार के कार्य को देखा है। परन्तु संस्कृत नाटकों अथवा किसी भी भारतीय भाषा के नाटकों में सूत्रधार का यह रूप मुझे पढ़ने को अथवा देखने को नहीं मिला।

शंकरदेव के पश्चात् उनके शिष्य माधवदेव ने इसी प्रकार के नाटक लिखे, जिनका असमिया भाषा में "झुमुरा" नाम है। ये नाटक भी पौराणिक हैं और इनमें भी पद्यों की अधिकता है। शंकरदेव के नाटकों में दास्यभक्ति है और माधवदेव के नाटकों में वात्सल्य। दोनों नाटककारों के नाटकों की कथा भगवान कृष्ण से सम्बन्ध रखती है, माधवदेव के नाटकों की कृष्ण के बाल चरित्र से। शंकरदेव और माधवदेव का द्विजभूषण, रामचरण ठाकुर और दैत्यारि ठाकुर तीन प्रधान नाटककारों ने अनुसरण किया। इन तीनों ने भी "अंकिया नाट" प्रणाली के ही नाटक लिखे, परन्तु दैत्यारि ठाकुर के नाटकों

को "जात्रा" नाटक नाम दिया गया है। असमिया भाषा के नाटकों की यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से उन्नीसवीं शताब्दी तक चलती रही। बाद में तो असम देश में यह प्रथा चल पड़ी थी कि वहाँ के मठों में जब कोई नया मठाधीश गद्दी पर बैठता था तब उसे "अंकिया नाट" की रचना करनी पड़ती थी। यह उस मठाधीश की योग्यता का एक लक्षण माना जाता था, परन्तु इसका एक दूसरा फल भी हुआ कि ये सभी मठाधीश तो साहित्यिक प्रतिभा वाले हो नहीं सकते थे; अतः इस प्रथा के कारण "अंकिया नाट" की मौलिकता नष्ट होने लगी।

उन्नीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी में ब्रह्मदेश की लूटमार के कारण सारे असम देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर बहुत बड़ा धक्का लगा। इसके बाद ईस्ट इडिया कम्पनी के शासन काल में सन् १८३५–७५ के बीच असम प्रदेश की शिक्षा और न्यायालयों पर बंगला भाषा लाद दी गयी। असमिया भाषा का पतन आरम्भ हुआ। स्वतन्त्रता के अपहरण और परतन्त्रता की बेड़ियों ने असम के जन-जीवन का ह्रास तो किया ही, साथ ही असम के निवासियों ने एक और बुरी आदत सीखी; यह थी अफीम खाने की। परन्तु भारतवर्ष की जनता तो सदा से ही अपनी संस्कृति की उपासक रही है। असम में भी जागरूकता आयी। नयी विचारधारा वाले युवकों को एक अमरीकी ईसाई मिशन द्वारा प्रोत्साहन मिला। इस मिशन ने असमिया भाषा में "अरुणोदय" नामक मासिक पत्र का प्रकाशन किया, जिसमें आधुनिक असमिया नाटकों का प्रकाशन भी आरम्भ हुआ। आधुनिक असमिया नाटक के प्रथम रचयिता थे श्री हेमचन्द्र बरुआ। श्री हेमचन्द्र बरुआ ने समाज के प्रधान दोष अफीम के सेवन के विरुद्ध अपना पहला नाटक लिखा जिसका नाम है "कानियार कीर्त्तन"। श्री बरुआ ने स्वयं इस नाटक के सम्बन्ध में लिखा था कि इस छोटे से नाटक को लिखने का उद्देश्य जनता के बीच इस बात पर प्रकाश डालना है कि अफीम की लत ने असम के पौरुष को किस प्रकार नष्ट कर दिया है। इसके बाद श्री बरुआ ने कुछ और भी नाटक लिखे। इन नाटकों तथा इस काल के अन्य नाटककारों के नाटकों का प्रचार अधिकतर हस्तलिखित रूप में हुआ। अतः इनमें से अधिकांश अप्राप्य हैं।

सन् १८७५ में गोहाटी में एक रंगमंच की स्थापना की गयी। इस मंच पर "सावित्री सत्यवान", "नल दमयन्ती" आदि कुछ मौलिक पौराणिक नाटक

खेले गये और कुछ शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद। इनमें से कई नाटकों के गीत हिन्दी में भी हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दो दशाब्दियों में असम में अनेक पौराणिक और सामाजिक विषयों पर नाट्य रचना हुई। इन नाटककारों में श्री रमाकान्त चौधरी, श्री पूर्णकान्त शर्मा, श्री गुणाभिराय बरुआ, श्री रुद्रराय बारदोलाई, श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ आदि उल्लेखनीय हैं। श्री रमाकान्त चौधरी का "सीता हरण", श्री पूर्णकान्त शर्मा का "हरिश्चन्द्र", श्री गुणाभिराय बरुआ का "राम नवमी", श्री रुद्रराय बारदोलाई का "बंगाल बंगालिनि' और श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ का "लितिकाई" यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशाब्दियों में लिखे गये थे, तथापि वे आज भी चाव से पढ़े और खेले जाते हैं। बेजबरुआ हास्य रस के लेखक थे और उनके "लितिकाई" से अच्छा प्रहसन शायद अब तक असमिया भाषा में नहीं लिखा गया।

बीसवीं शताब्दी में भी असमिया भाषा में अनेक अच्छे नाटककार हुए जिनमें श्री पद्मनाथ गोहाई बरुआ, श्री दुर्गाप्रसाद दत्त मजुमदार, श्री बेनुधर राजखोआ, श्री चन्द्रधर बरुआ, श्री राधाकान्त सेदियाई, श्री नकुलचन्द्र भुइयन, श्री देवीचन्द तालुकेदार, श्री गणेशलाल चौधरी, श्री अतुलचन्द्र हजारिका श्री आनन्दचन्द्र बरुआ, श्री ज्योतिप्रसाद अग्रवाल, श्री लक्ष्मीकान्त दत्त, श्री पार्वतीप्रसाद बरुआ, श्री कीर्तिनाथ बारदोलाई, श्री कमलानन्द भट्टाचार्य, श्री प्रसन्नलाल चौधरी, श्री मित्रदेव महन्त, श्री प्रवीणफूखन, श्री कुमुदचन्द्र बरुआ, श्री कृष्णनाथ शर्मा बारदोलाई, श्री रुद्रराम बारदोलाई, श्री चन्द्रकान्त फूखन और श्री सुरेन्द्रनाथ सेकिया आदि नाटककार उल्लेखनीय हैं। इन्होंने सभी विषयों पर नाटक लिखे हैं।

उड़िया नाटक

बम्बई से एक थियेटर यूनिट बुलेटिन निकलता है। उसके १९५९ ईस्वी के मई मास के अंक में डाक्टर चार्ल्स फाब्री ने लिखा है कि भुवनेश्वर के नजदीक जो उदयगिरि की गुफाएँ हैं उनमें एक ऐसा चित्र प्राप्त हुआ है जिसमें रंगमंच पर एक नृत्य का प्रदर्शन है। यह चित्र ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी में बना था, यह कहा जाता है। यों भी उड़ीसा के कोणार्क, भुवनेश्वर और जगदीशपुरी के मंदिरों में जो मूर्तियाँ और मन्दिरों के आलों में जो

चित्र मिलते हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में यह ललित कला का केन्द्र रहा है । इसीलिए शायद इस भूभाग का पुराना नाम उत्कल रखा गया था ।

उड़ीसा में अभिनय युक्त कुछ नृत्यों का बहुत प्राचीन समय से प्रचार है । इनमें एक है—"दंडनाट" । "दंडनाट" में शिव और पार्वती के विवाह का नाटकीय प्रदर्शन होता था । सराइकेला का "छउ" नृत्य, जिसकी अब अंतर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि हो गयी है, इसी "दंडनाट" का एक विकसित रूप है । "छउ" शब्द छबि से निकला है । अभी भी "दंडनाट" और 'छउ" दोनों का विशिष्ट पर्वकालों पर प्रदर्शन होता है । पहले शिव और पार्वती की पूजा होती है, व्रत रखा जाता है और तदनन्तर अभिनय से युक्त यह नृत्य । इसके सिवा अभिनय वाले कुछ और भी लोक नृत्य उड़ीसा में प्रचलित हैं । इनमें "रंगसभा" "पाला", "दास काठिया" और "मजलिस" काफी प्रसिद्ध हैं ।

उड़िया भाषा के पहले लिखित नाटक "परशुराम विजय" की रचना वहाँ के राजा कपिलेन्द्र देव ने की थी । ये पन्द्रहवीं शताब्दी में हुए थे । "परशुराम विजय" एकांकी नाटक था । राजा कपिलेन्द्र देव के पौत्र राजा प्रतापरुद्र ने "अभिनव वेणी संहारम्" नामक एक एकांकी नाटक की रचना की । श्री राय रामानन्द, जो चैतन्य के शिष्य थे और उस समय दक्षिण उत्कल के शासक, उन्होंने "जगन्नाथ वल्लभ" नामक एक नाटक लिखा था । इस नाटक के अभिनय का भी वृत्त मिलता है, जिसमें देवदासियों ने काम किया था । इसके बाद पच्चीस और भी एकांकियों का पता लगता है, परन्तु इन नाटकों का गद्य संस्कृत था, और गीत उड़िया भाषा के ।

आधुनिक उड़िया नाटक का आरम्भ "कंचिकावेरी" नामक एक ऐतिहासिक नाटक से हुआ जो श्री रामाशंकर राय ने लिखा था । इस नाटक की रचना उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में हुई । रामाशंकर राय ने चौदह नाटक और लिखे । श्री राय आधुनिक उड़िया नाटक के जनक माने जाते हैं । इनके पश्चात् सन् १८८७ में श्री मधुसूदनदास का "हरिश्चन्द्र" नाटक उड़ीसा में काफी प्रसिद्ध हुआ । इसके बाद सन् १९०२ में पद्मानवदेव ने उषा और अनिरुद्ध की प्रसिद्ध पौराणिक कथा पर "बाण दर्पदलन" नामक नाटक की रचना की ।

उड़िया भाषा में सामाजिक नाटकों का सूत्रपात कविभूषण श्री घनश्याम मित्र ने किया। "कंचनमाला" नामक इनका मौलिक सामाजिक नाटक बहुत प्रसिद्ध है।

पंडित गोदावरीश तथा श्री अश्विनीकुमार उड़िया भाषा के आधुनिक युग के दो प्रसिद्ध नाटककार हैं। श्री गोदावरीश ने ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं और श्री अश्विनीकुमार ने सभी प्रकार के नाटक।

नाटक के साथ उड़ीसा में गीत नाट्य का भी बहुत प्रचार रहा है और अब भी है। सन् १९१७ में श्री गोविन्दचन्द्रसूर ने एक गीत नाट्य मंडल का निर्माण किया था। उनके बाद गोस्वामी मोहनसुन्दर ने इसी प्रकार की एक दूसरी मंडली बनायी थी। गोस्वामी मोहनसुन्दर के उत्तराधिकारी श्री कालीचरण पट्टनायक इस क्षेत्र में समूचे भारत में प्रसिद्ध हैं। उन्होंने "उड़िया थियेटर पार्टी" नामक एक दल ही संगठित किया, जिसके ये स्वयं प्रमुख नाटककार रहे। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् श्री कालीचरण पट्टनायक का रंगमंच और अधिक प्रसिद्ध हुआ। इसका प्रधान कारण शायद यह हुआ कि श्री कालीबाबू पहिले पहल उड़ीसा में महिलाओं को रंगमंच पर लाये। उनके नाटक बहुधा आज की समस्याओं पर लिखे गये हैं; जैसे—अस्पृश्यता-निवारण, आर्थिक शोषण, बेकारी इत्यादि। "भात", "रक्तमाटी", "बेकार" इनके कुछ प्रसिद्ध सामाजिक नाटक हैं। कालीचरण पट्टनायक के बाद श्री नौपालछोटराय और श्री रामचन्द्र मिश्र की सामाजिक नाटकों के लिए काफी प्रसिद्धि हुई। श्री छोटराय के "जहर" और "परकलम" तथा श्री रामचन्द्र के "घर संसार" तथा 'भाई भाउज" साहित्यिक और रंगमंच दोनों दृष्टियों से सफल नाटक माने जाते हैं। आधुनिक समय में उड़िया भाषा में और भी अनेक नाटककार हुए हैं, जिनमें श्री गोपालचन्द्र जोशी, श्री कालिन्दीचरण पाणिग्रही, श्री रामरंजन महन्ती, श्री हरिश्चन्द्र बारदोलाई, श्री बैकुंठनाथ पट्टनायक, श्री मायाधर, श्री मानसिंह, श्री लक्ष्मीधर नायक, श्री मनोरंजनदास, श्री भंजकिशोर पट्टनायक ने कुछ अच्छे साहित्यिक नाटकों की रचना की है। इनमें से रंगमंच पर भी श्री लक्ष्मीधर नायक का "लाल चाबुक" नामक नाटक काफी सफल हुआ है।

उड़ीसा में सन् १९५६ में इस क्षेत्र में एक और अनुकरणीय कार्य हुआ है। "उड़ीसा संगीत परिषद" ने जगन्नाथपुरी की "अन्नपूर्णा रंगशाला"

में एक "बाल रंगमंच" की स्थापना की है, जिसमें कई बाल नाटकों का अभिनय हुआ है ।

मराठी नाटक

ग्यारहवीं शताब्दी में जब उत्तर भारत की वर्तमान भाषाओं ने जन्म लिया उसी समय महाराष्ट्री भाषा से आधुनिक मराठी भाषा निकली, परन्तु जिस प्रकार हमारी वर्तमान भाषाओं में आधुनिक नाट्य साहित्य का निर्माण उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास आरम्भ हुआ उसी प्रकार मराठी भाषा में वर्तमान नाटकों का निर्माण भी; यद्यपि आधुनिक मराठी रंगमंच का आरम्भ सन् १८४३ में माना जाता है । यह हुआ था सांगली के श्री विष्णुदास भावे द्वारा रचित "सीता स्वयंवर" नामक नाटक के अभिनय से ।

मराठी में नाटक-लेखन के पूर्व नाटक-प्रदर्शन चलता था । यह बंगाल के "जात्रा" नामक नाटकों से मिलता जुलता था । बहुत समय तक मराठी भाषाभाषी क्षेत्र में नाटकों के प्रदर्शन को "जात्रा" ही कहा करते थे । आगे चलकर इसका नाम "दशावतारी खेल" हुआ । परन्तु उस समय के कोई लिखित नाटक अब उपलब्ध नहीं हैं; शायद वे अभिनीत ही होते थे, लिखे नहीं जाते थे । लिखित नाटकों का मराठी में आरम्भ सन् १८७०—७५ के बीच हुआ । उस समय की कुछ रचनाओं का आधार उस समय लिखे गये कुछ उपन्यास थे और कुछ शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद । पूना के दक्खन कालेज के प्रोफेसर श्री वासुदेव कृष्ण केलकर ने भी श्री गणपतराव जोशी तथा श्री बलवन्तराव जोग, दो प्रतिभाशाली अभिनेताओं की सहायता से शेक्सपियर के "कामेडी आफ एरर्स" के मराठी अनुवाद का सफल अभिनय कराया । इस अनूदित नाटक का नाम "भ्रांतिकृत चमत्कार" रखा गया था । इसके बाद शेक्सपियर के "हेम्लेट", और "टेमिंग आफ दि श्रू" नाम के दो और नाटकों का मराठी अनुवाद और अभिनय हुआ । यह भी उपर्युक्त तीनों महानुभावों ने किया । इसके पूर्व श्री जोशी और श्री जोग "शाहू नगरवासी" नामक नाटक मंडली में अलिखित नाटकों का अभिनय किया करते थे, परन्तु यहाँ से नाटकों के लेखन का आरम्भ हुआ । इसके पश्चात् श्री बलवन्त पाण्डुरग उर्फ अण्णा साहब किर्लोस्कर ने कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का अनुवाद किया और इस अनुवाद के बाद उन्होंने ही दो मौलिक नाटकों की रचना की, जो पौराणिक थे और जिनके नाम थे "सौभद्र" तथा "रामराज्य वियोग"।

श्री किर्लोस्कर की सन् १८८४ में मृत्यु हो गयी । उनके अधूरे काम को श्री गोविन्दवल्लाल देवल ने हाथ में लिया और कुछ संस्कृत नाटकों का अनुवाद तथा कुछ मौलिक नाटकों की रचना कर उन्होंने मराठी साहित्य में "गेय" नाटकों की एक नयी पद्धति की स्थापना की, परन्तु श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के "वीर तनया" नाटक के पूर्व मराठी रंगमंच पर शेक्सपियर के गद्य नाटक ही अधिक लोकप्रिय रहे । श्री कोल्हटकर के "वीर तनया" की रचना और उसका प्रदर्शन मराठी के "गेय" नाटक क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी कदम था, जो इसके पश्चात् के नाटककारों के लिए मार्गदर्शक बना ।

"वीर तनया" नाटक की रचना और प्रदर्शन बीसवीं सदी के आरम्भ में हुआ, जब लोकमान्य तिलक के संपादकत्व में "केसरी" मराठी जगत् में स्वाधीनता के नये भावों को भर रहा था । उसी समय महाराष्ट्र के समाज सुधारक नेता श्री गोपाल गणेश आगरकर ने भी अपना "सुधारक" नामक एक पत्र निकाला । लोकमान्य समाज सुधार को पीछे रख राजनैतिक स्वतन्त्रता को प्रथम स्थान देते थे और श्री आगरकर समाज सुधार को । श्री आगरकर के सदृश न्यायमूर्ति श्री महादेव गोविन्द रानाडे भी समाज सुधार के समर्थक थे । श्री आगरकर की असामयिक मृत्यु के बाद उनके सारे कार्य को श्री रानाडे ने अपने हाथ में लिया । उसी समय श्री गोपाल कृष्ण गोखले का उदय हुआ । लोकमान्य का दल उग्रदल के नाम से विख्यात हुआ और श्री गोखले का उदार दल । मराठी नाट्य साहित्य और रंगमंच पर भी इसका प्रभाव पड़ा और इस क्षेत्र में भी दो दल हो गये । एक का नाम हुआ "उग्रदलीय रंगमंच" और दूसरे का "सुधारदलीय रंगमंच" ।

अब श्री कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर के नाटकों का समय आया । वे "केसरी" के सहकारी सम्पादक थे और "महाराष्ट्र नाटक मंडली" के लिए नाटक लिखते थे । सन् १९०३ के दिल्ली दरबार में उस समय के भारत के वायसराय लार्ड कर्जन के भाषण से क्षुब्ध हो श्री खाडिलकर ने "कीचक वध" नामक एक नाटक की रचना की । यद्यपि यह नाटक एक पौराणिक कथा पर आधारित था, तथापि इस नाटक में दुष्ट दमन सम्बन्धी कुछ ऐसी भावनाएँ आयी थीं जिससे क्षुब्ध हो अंग्रेज सरकार ने इसे जप्त कर लिया और इसका प्रदर्शन भी बन्द कर दिया । इसके बाद ही "बंगभंग" पर समूचे देश में, विशेषकर बंगाल और महाराष्ट्र में, राष्ट्रीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । इस आन्दो-

लन से प्रेरित हो मराठी में अनेक नाटक लिखे गये, पर एक के बाद एक वे सब जप्त होते गये। कहते हैं, इनकी संख्या एक शतक तक पहुँच गयी थी और खेद की बात यह है कि आज खोजने पर भी इन नाटकों के नामों तक का पता नहीं चलता।

जैसा अभी कहा गया है, उस समय का राष्ट्रीय आन्दोलन प्रधानतया दो ही प्रदेशों में चला था—बंगाल और महाराष्ट्र। परन्तु नाटक और रंग-मंच पर इस आन्दोलन का जितना प्रभाव महाराष्ट्र पर पड़ा उतना बंगाल के नाट्य साहित्य और रंगमंच पर नहीं। "बंगभंग" का आन्दोलन समाप्त होने पर मराठी नाट्य साहित्य और रंगमंच की दो धाराएँ हो गयीं—एक गद्य नाटकों की धारा और दूसरी "गेय" नाटकों की धारा। मराठी नाट्य साहित्य की रचना इन दोनों ही धाराओं में हुई, परन्तु पढ़ने में गद्य नाटकों का ही अधिक प्रचार हुआ। मराठी साहित्य में श्री गड़करी गद्य धारा के सबसे प्रधान मौलिक नाटककार हुए। श्री बाल गंधर्व "गेय" धारा के सबसे प्रमुख अभिनेता थे, क्योंकि इस धारा का प्रधान स्थान रंगमंच ही था। श्री नरसिंह चिन्तामणि केलकर, श्री वीर वामनराव जोशी, श्री मामा साहब वरेरकर, श्री य० ना० टिप्पणीस, श्री शंकरराव जोशी, श्री माधवराव जोशी, श्री खरे शास्त्री, श्री फाटक शास्त्री भी मराठी भाषा के प्रधान नाटककार माने जाते हैं। श्रीयुत् श्रीपाद कृष्ण को मराठी साहित्य में हास्य रस का प्रधान नाटककार समझा जाता है। श्री गड़करी और मामा साहब वरेरकर यथार्थ में श्रीपाद कृष्ण के शिष्य हैं। आधुनिक काल में श्री प्रा० के० अत्रे, श्री पू० ल० देशपांडे, श्री नाना जोग, श्री व्यंकटेश वकील, डा० वर्टी, श्रीमती मुक्ताबाई दीक्षित, श्री गंगाधर गाडगिल, श्री ताम्हनकर, श्री रागणेकर, श्री बोकिल, श्री दिवाकर कृष्ण, श्री वसन्त दुदवडकर, श्री स० ना० सूर्यवंशी, श्री आबा साहब आचरेकर, श्री जगदीश दलवी, श्री ला० क्रि० आयरे, श्री वसन्त जादव, श्री ना० ला० मोरे, श्री कावले आदि ने भी कुछ सफल पूरे और एकांकी नाटकों की रचना की है। श्री अत्रे का एक हास्य रस प्रधान नाटक "साष्टांग नमस्कार" बहुत लोकप्रिय रहा। पूना में सन् १८९४ में "भरत नाट्य संशोधन मन्दिर" नामक एक संस्था स्थापित हुई। मराठी के नाटकों और नाटककारों के सम्बन्ध में शोध और संग्रह का गत ६० वर्षों से यह सुन्दर काम कर रही है, जिसे मैंने स्वयं देखा है। अव्यवसायी रंगमंच पर प्रतिवर्ष यह संस्था अनेक नाटकों का प्रदर्शन भी करती है।

गुजराती नाटक

यद्यपि वर्तमान गुजराती भाषा महाराष्ट्री प्राकृत से अन्य वर्तमान उत्तर भारत की भाषाओं के सदृश ग्यारहवीं शताब्दी में ही निकली, तथापि आधुनिक नाट्य साहित्य का निर्माण गुजराती भाषा में भी उन्नीसवीं शताब्दी के आस-पास ही हुआ।

इसके पूर्व उत्तर गुजरात में स्थित अंबाजी और बाहुपारगी मन्दिरों मे हर साल अथवा विशिष्ट समयों पर यात्रा के लिए जानेवाले यात्रियों में महिलाओं का अभिनय करना एक धार्मिक कृत्य माना जाता था। नागर ब्राह्मण, जो जातीय दृष्टि से गुजरात के सबसे ऊँचे ब्राह्मण माने जाते हैं, इन अभिनयो में भाग लेते थे। ये अभिनय यात्रा में होते थे और शायद बगाल और महाराष्ट्र के 'जात्रा'' अभिनयों से मिलते जुलते थे। इन्हें गुजरात में ''भवाई'' अथवा ''वेश'' अभिनय कहा जाता था। ये अभिनय प्रमुख रूप से हास्य रस के होते थे और इनका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देना भी रहता था। बारहवीं शताब्दी में गुजरात में हेमचन्द्र नामक एक प्रसिद्ध जैन साधु हो गये हैं। श्री हेमचन्द्र के श्री रामचन्द्र नामक एक शिष्य थे। श्री रामचन्द्र ने अपने गुरु भाई श्री गुणचन्द्र के सहयोग से ''नाट्य दर्पण'' नामक नाट्य शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा है। संस्कृत के श्री धनंजय द्वारा लिखे हुए ''दशरूप'' के आधार पर इस ग्रन्थ की रचना हुई है और इस ग्रन्थ में कुछ नाटकों का उल्लेख भी आया है, परन्तु वे नाटक अब अप्राप्य हैं। बारहवीं सदी में गुजरात में भी कुछ रासों का प्रचलन हुआ। गुजरात के कुछ विद्वानों का तो यह मत है कि रासों के विकास का आरम्भ गुजरात में ही हुआ था। उस समय के कुछ और नाटक मिलते हैं। एक नाम है ''मोहराज पराजय''। यह जैन साधु यशपाल ने सन् ११७५-९० के लगभग लिखा। ''मोहराज पराजय'' के बाद आठ अंक का ''उल्लास राघव'' नाटक मिलता है, जिसके रचियता थे श्री सोमेश्वर। यह नाटक रामायण की कथा पर लिखा गया है। कहा जाता है कि इसका अभिनय भी द्वारिका के मन्दिर में हुआ था। इसके पश्चात् सोलहवीं सदी में श्री प्रेमानन्द ने भी कुछ नाटकों की रचना की।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में गुजरात के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री श्री एम० आर० नीलकंठ ने, जो विलायत भी हो आये थे, इन ''भवाई'' अथवा

"वेश" अभिनयों के तीस मूल पाठा का सम्पादन करके उन्हें पुस्तक रूप में प्रकाशित किया। इन्हीं में से एक कथानक पर श्री नीलकंठ शास्त्री ने भी "राई नो पर्वत" नामक एक अच्छा शास्त्रीय नाटक लिखा, जिसका गुजराती साहित्य में यथेष्ट आदर हुआ। इसी बीच श्री दलपतराय जी ने, जो अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ थे, गुजरात के एक जिला न्यायाधीश किन्लाक फारवस के कहने पर यूनान के नाटककार अरिस्तोफनेस की कृति "प्लूतस" के नाटक का "लक्ष्मी" नाम से गुजराती अनुवाद किया। उस समय शेक्सपियर के नाटकों का अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ था परन्तु यूनान के किसी नाटककार के नाटक का भारतीय भाषा में यह शायद पहला अनुवाद था। परन्तु "लक्ष्मी" नाटक गुजरात में लोकप्रिय न हो सका। श्री दलपतराय ने "लक्ष्मी" की रचना सन् १८५१ में की थी। इसके ठीक दस वर्ष बाद गुजरात विधान सभा के मुखपत्र "बुद्धि प्रकाश" में इस पत्र के संपादक श्री आर० बी० दवे ने अपना "जयकुमारी विजय" नाटक धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया। यद्यपि यह भी गंभीरता और नाटकीय गुणों की दृष्टि से कोई सफल नाटक नहीं है तथापि गुजराती भाषा का यह पहला मौलिक नाटक है। इसके बाद सन् १८६५ में एक पारसी श्री नानाभाई राणिना ने शेक्सपियर के "कामेडी आफ एरर्स" का "जोडियों भाइयों" नाम से अनुवाद किया। कुछ और भी शेक्सपियर के नाटकों का गुजराती में अनुवाद हुआ, जिनमें श्री एन० बी० ठक्कर का "वसुन्धरा" अथवा "बेधारी तलवार" है, जो शेक्सपियर के "मेकवेथ" का भावानुवाद है। मोलियर के भी कुछ नाटकों का गुजराती में इसी बीच अनुवाद हुआ है। इनमें श्री नवलराय का "भटनू भोपालू" नाटक है जो मोलियर के "डाक्टर" नामक नाटक का अनुवाद है।

सन् १८६८-१८८६ के बीच गुजराती साहित्य के महान् नाटककार नर्मदाशंकर ने "राम जानकी दर्शन", "बालकृष्ण विजय" आदि छै पौराणिक नाटक लिखे, परन्तु जिस नाटक ने गुजरात में सबसे अधिक प्रसिद्धि पायी वह इन्हीं दिनों "ललिता दुख दर्शक" नाम से लिखा गया, जिसे रचा था "जयकुमारी विजय" के लेखक श्री आर० बी० दवे ने ही। श्री दवे इस समय बम्बई में रहने लगे थे। उनका यह नाटक रंगमंच पर भी सफल हुआ और यह वहाँ पन्द्रह महीनों तक चला। पुस्तक रूप में इसके छै संस्करण हुए, जो उस समय एक विशेष बात मानी गयी थी।

गुजरात के नाटकों को प्रोत्साहन देने के लिए इन्हीं दिनों एक "नाटक उत्तेजक मंडल" संगठित किया गया था। इसका कार्य एक समिति के रूप में आरम्भ हुआ। इस समिति ने नाट्य साहित्य के निर्माण का और उसे रंग-मंच पर लाने का, दोनों ही काम किये। "नाटक उत्तेजक मंडल" के तत्वावधान में सर्वप्रथम, आर० यू० दवे के नाटक "हरिश्चन्द्र" का अभिनय किया गया जो तमिल भाषा के एक नाटक "हरिश्चन्द्र" के अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित था और जिसके अंग्रेजी रूप का लेखन और प्रकाशन लंका के एक बैरिस्टर मत्तु-कुमार स्वामी ने लंदन में किया था। "नाटक उत्तेजक मंडल" ने जब इस नाटक का गुजराती भाषा में अभिनय कराया, उस समय यह काफी लोकप्रिय हुआ। महात्मा गांधी ने अपनी जीवनी में लिखा है कि हरिश्चन्द्र आख्यान नाटक उन्होंने राजकोट में लगभग ७ वर्ष की आयु में देखा था जिसका उनके मन पर काफी प्रभाव पड़ा था। श्री दवे का गुजराती नाट्य साहित्य निर्माण और नाटकों के अभिनय में काफी हाथ रहा है। इनके और भी कुछ नाटक हैं जिनमें "नल दमयन्ती" और "मदालसा ऋतुध्वज" प्रसिद्ध हैं। उस समय कुछ गुजराती नाटककार एक और अद्भुत बात करते थे। वे अपने नाटकों के सम्भाषण हिन्दी भाषा में और गीत गुजराती भाषा में लिखते थे। हिन्दी और गुजराती भाषाएँ एक दूसरे से कितनी समीप हैं तथा एक दूसरे के कितनी निकट मानी जाती थीं, इसका यह एक प्रमाण है। इस बीच गुज-राती में दो और प्रसिद्ध नाटककार हुए, श्री डाह्याभाई घोलसाजी और श्री अमृत केशव नायक। श्री घोलसाजी के "अश्रुमती" और "उदयभानु" तथा श्री अमृत केशव नायक का "जहरी साँप" गुजरात में काफी प्रसिद्ध नाटक माने जाते हैं।

यहाँ तक नाटक और रंगमंच एक दूसरे से संबद्ध-से थे, पर अब दोनों के बीच में दरार पड़ने लगी। साहित्यिक नाटकों का व्यवसायी रंगमंच पर आना कठिन होता गया। यदि ये खेले जाते तो अव्यवसायी रंगमंच पर ही। इस बीच श्री गणपत रामभट्ट, प्रोफेसर बी० के० ठाकुर आदि साहित्यिक नाटककारों ने अपने साहित्यिक नाटकों की रचना की। इनके बाद श्री नाना लाल और श्री कन्हैयालाल मुन्शी के कुछ नाटक आये, परन्तु नानालाल यथार्थ में कवि थे, नाटककार नहीं। इसी प्रकार मुन्शी जी प्रधानतया उपन्यासकार हैं, नाटककार नहीं। साहित्यिक नाटक और रंगमंच की खाई को पाटने का प्रयत्न श्री चन्द्रवदन मेहता ने कुछ दूर तक किया। उन्होंने स्वयं कुछ ऐसे

साहित्यिक नाटकों की रचना की जो रंगमंच पर भी सफल हुए ।

इब्सन, शा, गाल्सवरदी आदि से प्रेरणा पा, कुछ तरुण नाटककार आजकल विशेषकर एकांकी नाटकों की गुजराती भाषा में रचना कर रहे हैं । इनमें प्रमुख हैं श्री बटूभाई उमरवाडिया, श्री यशवन्त पण्डया, श्री प्राण-जीवन पाठक, श्री उमाशंकर जोशी, श्री गुलाबदास ब्रोकर, श्री जयन्तीदयाल, श्री चुन्नीलाल मडिया, श्री यशोधर मेहता, श्री पुष्कर चंदावरकर, श्री प्रागजी डोसा, श्री शिवकुमार जोशी, श्री रसिकलाल पारिख आदि ।

गुजरात में नाट्य साहित्य और रंगमंच दोनों के उत्कर्ष का इस समय व्यवस्थित कार्य हो रहा है । इस कार्य में अग्रगण्य हैं श्री जयशंकर "सुन्दरी", श्री घनसुख लाल मेहता, सुश्री दीना गांधी, श्री जसवन्त ठाकर आदि । बम्बई में नाट्य कला अकादमी स्थापित हुई है । केवल नाटक विषय पर "गुजराती नाट्य" नामक एक मासिक पत्र निकलता है, जिसके सम्पादक हैं श्री मधुकर रांदेरिया । एकांकी नाटकों का एक अलग मासिक पत्र है । इसके संपादक हैं श्री गुलाबदास ब्रोकर । अहमदाबाद और बड़ौदा में नाट्य कला की शिक्षा के लिए विद्यालय तक खोले गये हैं ।

पंजाबी नाटक

हमारे संविधान में जिन प्रमुख भारतीय भाषाओं को स्थान दिया गया है उनमें शायद पंजाबी भाषा ही ऐसी भाषा है जिसमें अब तक भी किसी श्रेष्ठ नाट्य साहित्य का निर्माण नहीं हुआ । इसका प्रधान कारण कदाचित् यह है कि पंजाब में उर्दू भाषा के नाटकों को देखने का ही दौर-दौरा रहा । साहित्य के अन्य क्षेत्रों में पंजाबी भाषा में कोई साहित्य निर्माण न हुआ हो, यह बात नहीं है । पंजाबी भाषा का श्रव्य काव्य तो काफी ऊँचाई तक पहुँचा हुआ है, परन्तु दृश्य काव्य पंजाबी भाषा में अब तक नहीं पनपा ।

कुछ लोक नाट्यों का वहाँ प्रचार रहा है, आज भी है । इनमें से एक "किस्साखानी" काफी प्रसिद्ध था । कई जगह रासलीला होती है, नौटंकी, स्वांग, तमाशा, नकल आदि भी, जिनका इतिहास भी बहुत पुराना है काफी प्रचलित हैं, परन्तु नाटक वहाँ बाहर से आनेवाली पारसी नाटक कम्पनियों आदि ने ही किये ।

पंजाब के प्रसिद्ध कवि भाई वीरसिंह जी के पिता डा० चरणसिंह जी ने कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का पंजाबी भाषा में अनुवाद किया था। उसी समय सरदार मानसिंह ने "विक्रमोर्वशी" का अनुवाद किया। परन्तु मौलिक नाटकों का पंजाबी में कोई खास विकास नहीं हुआ। भाई वीरसिंह जी के सदृश महान् कवि ने "राजा लखदातासिंह" नामक एक नाटक लिखा, पर जो भाई जी श्रव्य काव्य लिखने में इतने सफल हुए, उनका यह नाटक एकदम असफल है। इस समय के कुछ और मौलिक नाटककारों के नाम लिये जाते हैं जैसे—ज्ञानी गुरुबख्शसिंह, बाबा बुद्धसिंह, श्री कृपा सागर, श्री ब्रजलाल शास्त्री, श्री फीरोजदीन। परन्तु इनमें कोई भी सफल नाटककार नहीं कहा जा सकता। पारसी नाटक कम्पनियों की नकल पर पंजाबी भाषा में पंजाब में रंगमंच की स्थापना का एक प्रयत्न हुआ था। इसके लिए लाहौर कालेज के एक प्रोफेसर श्री ईश्वरचन्द्र नन्दा ने पहले शेक्सपियर के "मर्चेन्ट आफ वेनिस" के आधार पर "शामू शाह" और उसके बाद "सुभद्रा" तथा "लिल्ली दा व्याह" लिखे। श्री नारायणसिंह ने शेक्सपियर के ही "किंग लियर" का "लाल बादशाह" नाम से अनुवाद किया। परन्तु ये नाटक भी सफल नहीं हुए। सरदार हरचरणसिंह एक और नाटककार को श्री ईश्वरचन्द्र नन्दा का उत्तराधिकारी माना जाता है, परन्तु वे भी सफल न हो पाये।

साम्यवादी विचारधारा से प्रेरित कुछ ही समय पूर्व कुछ और नाटककार क्षेत्र में आये हैं। ये हैं श्री करतारसिंह दुग्गल, श्री गुरुदयालसिंह खोसला, सुश्री शीला भाटिया, श्री संतसिंह सेखा, श्री बलवन्त गार्गी, श्री अमरीकसिंह आदि। परन्तु इनका भविष्य अभी भविष्य के गर्भ मे है।

काश्मीरी नाटक

प्राचीन भारत में काश्मीर संस्कृत भाषा का केन्द्र रहा है। काश्मीर के राजाओं की कथाओं पर "राजतरंगिणी" संस्कृत भाषा में एक अद्वितीय ग्रन्थ माना जाता है। कहा जाता है, उस काल में काश्मीर में भास, कालिदास आदि के नाटकों का यथेष्ट प्रचार था। परन्तु, शनैः शनैः काश्मीर में संस्कृत के स्थान पर काश्मीरी भाषा का उत्थान हुआ, इसके बाद इस्लाम का प्रचार हुआ, मुसलमानों की संख्या बढ़ी और संस्कृत भाषा का प्रायः लोप ही हो गया। काश्मीरी भाषा आधुनिक भारतीय भाषाओं के सदृश एक प्राचीन भाषा होते हुए भी उसका साहित्य बहुत समृद्ध नहीं है। हिन्दुओं में सुतिकठ,

लिल्लेश्वरी और मुसलमानों में शेख नूरुद्दीन रेशी (नुद्दारेशी) का साहित्य हमें मिलता है।

जहाँ तक नाटकों का सम्बन्ध है, आरम्भ में काश्मीर में रामलीला और रासलीला का प्रचार था। बाद में वहीं के मन्दिरों आदि में "मेला" नामक आयोजन होते थे। वहाँ तथा अन्य स्थानों पर भी "बांदा जश्न" नाम के कुछ खेल खेले जाते थे, जिनमें काश्मीरी कृषकों आदि के जीवन दिखाये जाते थे। इनमें व्यग्य और हास्य रस का काफी मिश्रण रहता था।

आधुनिक काल में काश्मीर पर भी पारसी नाटक कम्पनियों का प्रभाव पड़ा। पहले वहाँ श्री आगा हश्र काश्मीरी के उर्दू नाटक खेले गये और बाद में इन नाटकों में से कुछ का श्री नन्दलाल कौल और गुलामनवी दिलसोज ने काश्मीरी भाषा में अनुवाद किया। ये नाटक काश्मीर मे अनेक स्थानों पर खेले भी गये। इन अनुवादों मे कुछ हास्य रस की "नकले" भी जोड़ दी जाती थीं। इसके बाद काश्मीर मे "कल्चरल फ्रन्ट" नामक एक साहित्यिक आन्दोलन शुरू हुआ, जिस पर साम्यवादी विचारधारा का काफी प्रभाव था। कल्चरल फ्रन्ट ने "कुंगपोश" नामक एक मासिक पत्रिका प्रकाशित की, जिसमे काश्मीरी और उर्दू दोनों ही भाषाओं की सामग्री रहती थी। इस पत्रिका के सम्पादक थे महजूर मिरजा आरिफ और नादिम। कल्चरल फ्रन्ट ने केवल एक पत्रिका ही प्रकाशित नहीं की, परन्तु काश्मीर में नाटकों, कवि सम्मेलनों और संगीत सम्मेलनों का भी प्रचार किया। श्री नादिम का "बम्बुर" (भ्रमर) और "यम्बदजल" (नरगिस) नामक गीति नाट्य काश्मीर में काफी सफल हुए हैं। प्रोफेसर मुहैयुद्दीन हाजिनी, श्री अली मुहम्मद, श्री नूरमोहम्मद रोशन भी काश्मीर के अच्छे नाटककार माने जाते हैं।

काश्मीर के रंगमंच पर भी सिनेमा का काफी असर पड़ा है, परन्तु काश्मीरी भाषा के फिल्म न होने के कारण आकाशवाणी द्वारा जिन काश्मीरी भाषा के नाटकों का प्रचार किया जाता है वे नाटक भी काफी लोकप्रिय हुए हैं। इस सम्बन्ध में श्री निजा साइब और श्री मचामा पुष्करभान के प्रयत्न की वहाँ काफी सराहना है।

जिस प्रकार उत्तर भारत की समस्त भाषाएँ मूल में संस्कृत से निकली

हैं, उस प्रकार दक्षिण भारत की भाषाएँ संस्कृत से नहीं, यद्यपि आगे चलकर दक्षिण की भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव पड़ा और इन भाषाओं की शब्दावली में संस्कृत की शब्दावली प्रचुर परिमाण में मिल गयी।

दक्षिण भारत की चार प्रधान भाषाएँ हैं—तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलगू। तमिल भाषा दक्षिण भारत की भाषाओं में सबसे प्राचीन मानी जाती है, कुछ विद्वान तो इसे संस्कृत की समकालीन भाषा मानते हैं।

तमिल नाटक

तमिल के प्रसिद्ध विद्वान एम० श्रीनिवास अयंगार का कथन है कि दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं में तमिल का वही स्थान है जो उत्तर की भारतीय भाषाओं में संस्कृत का। तमिल साहित्य का इतिहास तोलकाप्पियर के "तौलकाप्पियम्" नामक व्याकरण से आरम्भ होता है, जो ईसा के एक हजार वर्ष पूर्व लिखा गया था। इस व्याकरण में १२७६ सूत्र हैं। जिस प्रकार तमिल भाषा के प्राचीन प्रमुख व्याकरणाचार्य तौलकाप्पियर हैं, उसी प्रकार आधुनिक काल के सबसे महान् कवि सुब्रह्मण्य भारती हैं। उन्तालीस वर्ष की अल्पायु में निधन होने पर भी आधुनिक तमिल साहित्य में उनका सर्वोच्च स्थान है।

तमिल में नाटक बहुत पुराने समय से है। इसका प्रमाण वहाँ के एक पुरातन कवि की कविता से भी मिलता है। कविता का भाव है—"जब लक्ष्मी की किसी पर कृपा होती है तो वह उसके पास इस प्रकार जमा होती है, जिस प्रकार नाटक देखने के लिए नाटक घर में दो-दो चार-चार व्यक्तियों का प्रवेश होता है और धीरे-धीरे नाटक घर भर जाता है। लक्ष्मी जब अप्रसन्न होती है तो वह इस प्रकार निकलती है जिस प्रकार नाटक समाप्त होने पर नाटक घर के दर्शक एक दूसरे को धक्का देकर निकल जाते हैं।"

ए० एस० राप्पोर्त कहते हैं—"किसी देव या देवों के समूह की स्तुति में गीतों से युक्त नृत्य, जिसमें अभिनय भी होता था, तमिल के आधुनिक नाटकों का आदि रूप है।"

कूत्तु शब्द नृत्य कला और नाटक दोनों के लिए आता है। उस काल

में अभिनेताओं को कूत्तार और पूरुनार तथा अभिनेत्रियों को बिरलियर कहते थे। ये शब्द भी ईस्वी सदी से एक हजार वर्ष पुराने हैं।

तमिल साहित्य के तीन प्रमुख विभाग किये जाते हैं। इनके नाम हैं (१) इयल (साहित्य पद्य और गद्य) (२) इसइ (संगीत-गीत काव्य) (३) नाडगम (नाटक नृत्य सहित)। इन विभागों के अनुसार तमिल साहित्य को "मुत्तमिल" याने त्रिरूपी साहित्य का नाम मिला है। संत अगस्तियर ने "अग-त्तियम्" नाम के एक व्याकरण की रचना की है, उसमें भी तीन विभाग हैं। तीसरे भाग में नाटक का विवेचन है।

सातवीं सदी में तामिलनाड के एक राजा महेन्द्रवर्मन ने एक सामाजिक नाटक की रचना की थी। इस नाटक का नाम है—"भत्ता विलास प्रवचनम्"। इस नाटक से उस समय की सामाजिक स्थिति का ज्ञान होता है। परन्तु, इस नाटक की भाषा संस्कृत है, जिससे जान पड़ता है कि उस समय सुदूर दक्षिण में भी संस्कृत का प्रचुर प्रचार था।

ईसा के पश्चात् दसवीं शताब्दी का चोल नरेश राजराजेश्वर का तन्जौर के एक मन्दिर में एक शिलालेख मिला है। इस शिलालेख में "राज-राजेश्वर नाडगम्" नामक एक नाटक का उल्लेख है। नाटक के नाम के साथ ही नाटक के मुख्य अभिनेता का नाम, उसका चोल नरेश का आश्रित रहना, चोल नरेश द्वारा उसे दी हुई भेंटें तथा हर साल विशेष प्रसगों पर नाटक खेले जाने का उल्लेख भी इस शिलालेख में है। तमिल भाषा का "राजराजेश्वर नाडगम्" शायद पहला नाटक है जिसका नाम हमें तमिल भाषा के नाटकों में मिलता है। इस शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में ऐसे नाटकों का मन्दिरों में धार्मिक अथवा सांस्कृतिक कृत्यों में अभिनय होता था। साथ ही यह भी पता चलता है कि ये नाटक उस समय पद्य में लिखे जाते थे। परन्तु "राजराजेश्वर नाडगम्" नाटक का हमें नाम ही मिलता है, इसके अथवा उस काल के लिखे हुए किसी नाटक की पाण्डुलिपि नहीं।

सत्रहवीं सदी में तामिलनाड में एक "नोंडीनाडगम्" (लंगड़ा नाटक) नामक नाटक का रूप प्रचलित हुआ। इस रूप के अठारहवीं सदी के प्रारम्भ में रचित दो नाटकों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई हैं। ये दो नाटक तमिल

भाषा के पहले नाटक हैं जो हमें उपलब्ध हुए हैं। इसी रूप का एक नाट्क छपा भी था।

श्री अरुणाचल कविरायर (१७१२—१७८६) ने "रामनाडगम्" और "असवमुखी नाडगम्" (घोड़े का मुख) नामक दो नाटकों की रचना की थी। कविरायर एक सत और भक्त थे। इसी प्रकार रामचन्द्र कविरायर ने महाभारत की कथा पर "भरत विलासम्" नाटक लिखा था।

तन्जौर के मराठा राजाओं के समय के अनेक नाटक मिलते हैं जो खेले भी गये थे। इनमें से "हरिश्चन्द्र नाडगम्" और "शिरुत्तोडनाडगम्" बहुत लोकप्रिय हुए। उस काल के कुछ नाटकों की पाण्डुलिपियां तन्जौर के सरबोजी महाराज सरस्वती महल पुस्तकालय में अभी भी सुरक्षित हैं। परन्तु, इनका अभी प्रकाशन नहीं हुआ है। इनमें से कुछ के नाम हैं:—"मदन सुन्दर पुरादनसनादन विलासम्", "पुरुप चक्रवर्ती नाडगम्", "शारंगधर नाडगम्" 'पाण्डिकेलि विलासम्", "सुभद्रा कल्याणम्" इत्यादि।

मद्रास राज्य के पाण्डुलिपि पुस्तकालय में श्री पी० सम्बंद मुदिलियार के कथनानुसार कोई तीस नाटकों की पाण्डुलिपियां हैं जिनमें प्रमुख हैं—"इरण्य सहार नाडगम्", "कन्दर-नाडगम्", "कात्तवराय नाडगम्", "कुशलव नाडगम्" तथा "जामदग्न्य नाडगम्"। इनके सिवा देवताओं के उत्सवों के लिए रचे हुए नाटक भी काफी सख्या में मिलते हैं, जो इन उत्सवों में खेले जाते थे।

तमिल भाषा के नाटकों की दो शैलियां और भी प्रचलित थीं। इनके नाम हैं—"वंजि" और "पल्लु"। "पल्लु" शैली के नाटक कृषकों से संबंध रखते हैं। तिरुकुन्दरासय्या कविरायर का "कुरल्ल कुरवंजि" इस रूप का सुन्दर नाटक है।

अन्य भारतीय भाषाओं के सदृश तमिल भाषा में भी पहले रामायण, महाभारत और पुराणों की कथाओं अथवा ऐतिहासिक वृत्तों पर नाटक लिखे जाते थे। तमिल का पहला प्रसिद्ध सामाजिक नाटक "डम्बाचारि विलासम्" नाम से काशिविश्वनाद मुदिलियार ने लिखा।

पहले तमिल के नाटकों में अंकों और दृश्यों का विभाजन नहीं होता था। अंकों तथा दृश्यों में विभाजित तमिल का पहला नाटक "मनोन्मणीयम्" सन् १८६१ में श्री पी० सुन्दरम् पिल्लै ने लिखा। ये त्रिवेन्द्रम् कालेज में दर्शन के एक आचार्य थे। इसके बाद अंकों और दृश्यों में विभाजित इस प्रणाली को तमिल भाषा के अन्य नाटककारों ने भी अपनाया। इनमें प्रसिद्ध हैं— मद्रास के एक अवकाश प्राप्त न्यायाधीश श्री पी० सम्बन्द मुदिलियार, मद्रास के क्रिश्चियन कालेज के तमिल भाषा के प्राध्यापक श्री पी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रीयर। इस काल के नाटककारों पर शेक्सपियर का भी प्रभाव था और कुछ की कृतियाँ तो शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद ही थे। शेक्सपियर के नाटकों के अनुवादकों में श्री पी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रीयर के सिवा एस० नारायण स्वामी अय्यर, ए० माधवैया, के० वेंकटराम अय्यर के० रामस्वामी अयंगार, श्री पी० एस० दोराइस्वामी अयंगार, श्री सरस लोचन चेट्टियार तथा श्री जी० जोसेफ के नाम प्रसिद्ध हैं।

सस्कृत क भी कुछ नाटकों का तमिल में अनुवाद हुआ। "अभिज्ञान शाकुन्तल" का भवानन्दम् पिल्लै तथा पी० सम्बन्द मुदिलियार ने किया, "विक्रमोर्वशी" का श्री एस० राजा शास्त्री और एस० रामास्वामी अयगार ने, "मालविकाग्नि मित्र" का श्री सुब्रह्मण्य भारती तथा श्री पी० संबंन्द मुदिलियार ने, "वेणी संहार" एवं 'मृच्छकटिक" का श्री एस० राघवाचार्य ने।

आधुनिक काल में तमिल भाषा में अनेक सामाजिक नाटक भी लिखे गये हैं। श्री प्रोफेसर बी० जी० सूर्यनारायण शास्त्रीयर आधुनिक नाटकों के अग्रगण्य नाटककार माने जाते हैं और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के सदृश इनका देहावसान भी सन् १९०३ में ३३ वर्ष की अवस्था में हो गया।

तामिलनाड के ग्रामीण क्षेत्रों में भी नाटक के एक स्वरूप का प्रचार रहा है जिसे "तेरुक्कूत्तु" कहा जाता है, जिसका अर्थ है मार्गों पर खेला जानेवाला। इन नाटकों की कोई पौराणिक अथवा ऐतिहासिक या श्रृंगार रस की कहानी रहती है। ये निःशुल्क होते हैं और इनके दर्शनार्थ भारी भीड़ जमा होती है; परन्तु ये साधारण ग्रामीण जनता के मनोरंजन मात्र के साधन हैं, इनका कोई साहित्यिक महत्त्व नहीं है।

तमिल भाषा के आधुनिक काल में निम्न नाटककारों का प्रधान स्थान माना जाता है—श्री भारतिदासन, श्री अ० रु० रामनाथन, श्री एस० डी० सुन्दरम्, श्री अ० पे० विश्वनाथन्, श्री सी० एन० अण्णात्तुरै, श्री मु० करुणानिधि, श्री रामस्वामी अयंगार, श्री के० स्वामीनाथन्, श्री नीलकण्ठन्, श्री कृष्णमूर्ति, श्री कम्बदासन, श्री रा० वेंकटाचलम्, श्री टी० के० एस० बन्धु, श्री एन० एस० कृष्णन् रामचन्द्रन्, श्री शिवाजी गणेशन्, श्री टी० के० एस० सहोदरहल, श्री राजमणिक्कम् आदि।

दक्षिण का प्रसिद्ध "भरत नाट्यम्" नृत्य भी कूत्तु कला के अन्तर्गत आ जाता है।

मलयालम नाटक

केरल राज्य के निवासियों की भाषा का नाम मलयालम है। मलयालम भाषा और तमिल भाषा कुछ मिलती जुलती हैं। ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका दोनों भाषाओं में प्रयोग होता है। "कूत्तु" शब्द मलयालम और तमिल दोनों भाषाओं में एक प्रकार के नृत्य और नाटक दोनों अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द भी नया नहीं है। लगभग तीन हजार वर्ष पुराना है और आज भी कूत्तु-कला के नृत्य तथा अभिनय केरल के मंदिरों में होते हैं।

इसके पश्चात् मलयालम भाषा के लोकनाटक का समय आता है। इनके पहले अनेक भेद विभेद थे, परन्तु अब इनके अनेक भेद लुप्त हो गये हैं। कुछ नये भेद आये हैं। आजकल इनके प्रधान भेदों में एक का नाम है—"ओल्वपानक्कूत्तु"। उत्तर भारत में रामलीला के सदृश पूरा रामचरित्र इकतालीस दिनों में "ओल्वपानक्कूत्तु" के माध्यम से होता है। यद्यपि प्राचीन काल में मलयालम भाषा के उपर्युक्त प्रकार के नृत्य और अभिनय प्रायः धार्मिक आधार पर ही होते थे, परन्तु लोकनाटक के कुछ ऐसे भी भेद थे जिनसे धार्मिक कथाओं का सम्बन्ध नहीं था। इनके नाम हैं—"कुरत्तियाट्टम" "काक्काल नाडगम्" इत्यादि। केरल की प्रसिद्ध "कथकलि" नृत्य पद्धति का "कूत्तु" और लोकनाटकों की कला से घनिष्ट सम्बन्ध है। परन्तु मलयालम के प्राचीन नाटक अब अप्राप्य हैं। हाल ही में कुछ विद्वानों ने मलयालम के प्राचीन नाटकों की खोज करने का प्रयत्न किया है। कुछ प्राचीन पांडुलिपियाँ भी मिली हैं, परन्तु अभी तक यह प्रमाणित नहीं हो पाया है कि इन नाटकों की

रचना कब हुई थी।

यथार्थ में जिसे नाटक कहते हैं उसका आरम्भ केरल में संस्कृत नाटकों के अनुवादों से ही हुआ। तिरुवतांकुर के राजा आयिल्यम् तिरुनाल ने सन् १८५० में "अभिज्ञान शाकुन्तल" का पहला अनुवाद किया। उसके बाद कालिदास के "मालविकाग्निमित्र" और भवभूति के "उत्तर रामचरित" का अनुवाद हुआ। इसके बाद "अभिज्ञान शाकुन्तल" के तो मलयालम में कोई दस-बारह अनुवाद हुए। एक तो अभी हाल ही में हुआ है। इन अनूदित संस्कृत नाटकों के आधार पर मलयालम में कुछ मौलिक नाटक भी लिखे गये, परन्तु इनकी संख्या बहुत थोड़ी है।

उन्नीसवीं सदी के अन्त में शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद आरम्भ हुआ। इसके बाद पश्चिम के कुछ अन्य नाटककारों के भी नाटकों का मलयालम में अनुवाद हुआ।

मलयालम भाषा में वर्तमान विषयों पर मौलिक नाट्य रचना छोटे-छोटे प्रहसनों से आरम्भ हुई, जिनका अभिनय शिक्षण संस्थाओं में होता था। इन प्रहसनों के पहले लेखक थे मलयालम भाषा के उपन्यासकार श्री सी० बी० रामन पिल्लै। इनका एक प्रहसन "गुरुबिल्ला कलरी" (बिना मास्टर का स्कूल) केरल में बहुत प्रसिद्ध है। रामन पिल्लै के पश्चात् मलयालम के दूसरे उपन्यासकार श्री ई० वी० कृष्ण पिल्लै आते हैं। इनके "सीता लक्ष्मी, "राजा केशवदासन" आदि कुछ नाटक काफी सफल हुए हैं, परन्तु इन दोनों लेखकों के नाटक हास्य रस प्रधान हैं। मलयालम के सर्वप्रथम मौलिक गम्भीर नाटककार केनिक्करा पद्मनाभ पिल्लै हैं। इनके "वेलूत्तम्बिदासन" नाटक की काफी प्रसिद्धि है। इनके भाई कुमार पिल्लै भी एक सफल नाटककार हैं। ये दोनों भ्राता उत्कृष्ट अभिनेता भी हैं। श्री येडेसरी गोविन्दन् नायर, श्री एम० गोविन्दन्, श्री केलप्पन नायर, श्री टी० एन० गोपीनाथन् नायर, श्री के० टी० मुहम्मद इस समय मलयालम के अच्छे नाटककारों में माने जाते हैं।

मलयालम में एकांकी नाटक लिखने का आरम्भ श्री ए० के० रामकृष्ण पिल्लै ने किया।

कन्नड़ नाटक

दक्षिण की भाषाओं में प्राचीनता की दृष्टि से तमिल के बाद कन्नड़ भाषा का स्थान आता है। कर्नाटक में बहुत प्राचीन समय से दो तरह के अभिनयों का प्रचलन था—एक देहाती और दूसरा शहराती। रामायण, महाभारत, पुराणों आदि की कथाओं पर ये अभिनय नाटकीय ढंग से होते थे। फिर भी उस अभिनय को वर्त्तमान दृष्टि से नाटक कहा जाना कठिन है। लिखित नाट्य साहित्य का सूत्रपात कन्नड़ में भी बहुत विलम्ब से हुआ। जो पहला लिखित नाटक कन्नड़ भाषा में मिलता है वह संस्कृत की नाटिका "रत्नावली" का अनुवाद है, जिसे आर्य नामक किसी कवि ने सत्रहवीं शताब्दी में किया था। इसके बाद दो सौ वर्षों तक वहाँ कोई लिखित नाटक नहीं मिलता। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में "अभिज्ञान शाकुन्तल", "उत्तर रामचरित", "वेणी संहार" नामक कई संस्कृत नाटकों के अनुवाद मिलते हैं।

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य नाट्य साहित्य की प्रेरणा से कन्नड़ भाषा में आधुनिक नाटकों की रचना हुई। इनमें कुछ अनूदित थे और कुछ मौलिक भी। अनुवाद हुए प्रायः शेक्सपियर के नाटकों के। श्री केरूर वासुदेवाचार्य ने शेक्सपियर के नाटकों का सफल अनुवाद किया, परन्तु इन महानुभाव में मौलिकता भी पर्याप्त थी; अतः अंग्रेजी के साहित्यकार गोल्ड स्मिथ के "शी स्टूप्स टु कांकर" नामक रचना का इन्होंने जो अनुवाद किया वह अनुवाद होते हुए भी एक मौलिक रचना ही हो गयी और इसका उस समय समस्त कन्नड़ भाषा के नाट्य साहित्य पर प्रभाव पड़ा। इसी बीच कन्नड़ के महान् कवि श्री एम० गोविन्द पाई ने काव्यात्मक शैली में कुछ अतुकांत रचनाएँ कीं। ये रचनाएँ यद्यपि कन्नड़ भाषा की पुरानी शैलियों "शतपदी" के अनुसार थीं, परन्तु पुरानी शैली होते हुए भी श्री गोविन्द पाई की कवित्वशक्ति के कारण उनकी रचनाओं में कुछ ऐसी नवीनता आयी कि उनके बाद कन्नड़ के आधुनिक लेखकों ने भी श्री गोविन्द पाई का अनुसरण किया।

सन् १९१८ में श्री टी० पी० कैलाशम् ने कन्नड़ भाषा के नाट्य साहित्य में अपना "टोल्लुगट्टी" नामक मौलिक, सामाजिक नाटक लिखकर एक क्रान्ति कर दी। इसके बाद उनका "होमरूल" नामक एक और नाटक

प्रसिद्ध हुआ। उनकी शैली आद्योपान्त व्यंगात्मक है और श्री कैलाशम् कन्नड़ भाषा में आधुनिक नाटक साहित्य के पिता माने जाते हैं।

कन्नड़ भाषा में आधुनिक नाट्य साहित्य का द्रुतगति से विकास हुआ है। वहाँ के आधुनिक नाटककारों में प्रसिद्ध हैं—श्री वेन्द्रे, श्री के० बी० पुटप्पा, श्री के० एस० कारन्त, श्री एम० आर० श्रीनिवासमूर्त्ति, श्री टी० नरसिंहाचारी, श्री वेंकटेश अयंगार, श्री बी० एस० कांतिया, श्री बी० के० गोकल, श्री ए० एन० कृष्णराव, श्री श्रीरंग आदि। कन्नड़ भाषा में एकांकियों की रचना श्री श्रीरंग ने आरम्भ की। इन नाटककारों की कई रचनाएँ रंग-मंच पर भी आयी हैं।

तेलगू नाटक

यह सचमुच ही कुछ आश्चर्य की बात है कि पड़ोसी तमिल भाषा के क्षेत्र में नाट्य साहित्य का अत्यन्त प्राचीन काल से विकास होने पर भी, और संस्कृत भाषा का तेलगू भाषा पर तमिल भाषा की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ने पर भी, सन् १८७० तक तेलगू भाषा में न तो अनूदित नाटक ही थे और न मौलिक; यद्यपि अनेक तेलगू भाषा के कवियों ने रामायण और महाभारत के अनेक उपाख्यानों पर काव्य रचना की थी और पिल्ललानारिपीन वीर· भद्र नामक एक प्रमुख तेलगू भाषा के कवि ने कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" नाटक पर "शकुन्तला परिणयमु" नामक एक लम्बी कविता भी लिखी थी तथा पन्द्रहवीं शताब्दी में दो कवि नन्दीमल्लन और घण्टसिगन ने संयुक्त रूप से संस्कृत नाटक "प्रबोध चन्द्रोदयम्" का श्रव्यकाव्य के रूप में उल्था भी किया था। जिस शैली में ये अनुवाद होते थे उस शैली का नाम था "प्रबन्ध"। इन अनुवादों में अधिक तो पद्य ही रहता था, परन्तु यत्रतत्र गद्य भी रहता था। विजयनगर साम्राज्य के दिनों में इस शैली का विकास हुआ था। परन्तु जैसा ऊपर कहा है, सन् १८७० तक तेलगू भाषा में न कोई नाटक मिलता और न रंगमंच का ही कोई पता लगता है। हाँ, इस क्षेत्र में कुछ ऐसी मंडलियाँ अवश्य थीं जो पहले भागवत की कथाओं पर और तदुपरान्त महाभारत एवं रामायण की कथाओं पर कुछ लीलाएँ किया करती थीं, जिनमें प्रधानतया नृत्य और संगीत रहता था। इसके तीन रूप हैं—(१) "बुर्राकथा" (२) "हरिकथा" (३) "विधिनाटकम्"। "बुर्राकथा" का सबसे अधिक प्रचार रहा। इसमें तीन व्यक्ति रहते हैं, एक प्रमुख नायक और

दो उसका साथ देनेवाले। "हरिकथा" रामायण, महाभारत और अन्य पुराणों पर आश्रित है। इसमें प्रमुख स्थान गीतों का रहता है। कुछ गद्य का अंश भी रहता है। "हरिकथा" के नायक का नाम हरिदास रहता है। "विधि नाटकम्" में लोकनृत्य रहते हैं। परन्तु, इन्हें आधुनिक दृष्टि से नाटक की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

तेलगू नाटक का आरम्भ सर्वथा आधुनिक है। यह आरम्भ हुआ बम्बई की उन थियेटर कम्पनियों की प्रेरणा से जो बम्बई के निकट के तेलगू भाषाभाषी नगरों में जाती थीं। ये कम्पनियाँ उस समय प्रायः शेक्सपियर के नाटकों को तोड़-मरोड़कर उनका अभिनय किया करती थीं। सन् १८७६ में श्री वासुदेव शास्त्री ने शेक्सपियर के नाटक "जूलियस सीजर" का तेलगू भाषा में पद्यात्मक अनुवाद किया। यह तेलगू भाषा का प्रथम नाटक माना जाता है। इसके बाद संस्कृत के नाटकों का अनुवाद आरम्भ हुआ। श्री वेंकट रत्नम् नामक एक संस्कृत के विद्वान ने सबसे पहले "नरकासुर विजय व्यायोगम्" का तेलगू में अनुवाद किया। तदनंतर कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत के अनेक नाटककारों के नाटकों के तेलगू में अनुवाद हुए। पहला अनुवाद कालिदास के "अभिज्ञान शाकुन्तल" का हुआ जो श्री वीरेशलिंगम् पन्तुलु ने किया।

तेलगू भाषा के प्रथम मौलिक नाटक की रचना सन् १८८० में श्री वासुदेव शास्त्री ने की। इस नाटक का नाम है "नंदक राज्यम्"। यह पद्य में लिखा गया है और यह खेला नहीं जा सका। खेलने योग्य मौलिक नाटकों की रचना इसके बाद हुई। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इन मौलिक नाटकों के रचयिता प्रायः वे ही महानुभाव थे जिन्होंने अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों का अनुवाद किया था। खेलने योग्य मौलिक नाटक जिन्होंने लिखे उनमें बेल्लारी के दो नाटककार प्रमुख हैं। इनके नाम हैं श्री धर्मवरम् कृष्णमाचार्य और श्री कोलाचलम् श्रीनिवासराव। ये दोनों समकालीन थे और प्रतिस्पर्द्धी। दोनों पर ही पाश्चात्य शिक्षा और पाश्चात्य नाटकों का प्रभाव था। इनमें श्री कृष्णमाचार्य नाटककार के साथ ही अभिनेता भी थे। श्री वेदवेंकटराम शास्त्री भी इस काल के एक प्रमुख नाटककार हैं, जिन्होंने संस्कृत के कुछ नाटकों का अनुवाद किया और कुछ मौलिक नाटक भी लिखे हैं। इसी बीच आन्ध्रदेश में अनेक नाटक मंडलियाँ भी स्थापित हुईं और

फिर तो यहाँ का नाट्य साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति करता गया। पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों की रचना हुई। इसी बीच बंगला के श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का भी तेलगू में अनुवाद हुआ। आन्ध्रदेश के नाटककारों में श्री पानगुण्टी लक्ष्मी नरसिंहराव, गुरुजाड-अप्पाराव, श्री चिलकमति लक्ष्मीनरसिंहम्, श्री यज्ञनारायणम्, श्री तिरुपति वेंकटेश्वर, श्री आर० बी० एम० जी० रामाराव, श्री मुधुकृष्ण, श्री कामेश्वर-राव आदि अनेक ख्यातिनामा नाटककार हुए हैं और हैं।

आकाशवाणी पर भी तेलगू भाषा के अनेक नाटकों का प्रसार किया गया है। इन नाटकों के लेखकों में श्री देवुलपल्ली कृष्ण शास्त्री, श्री कृष्णराव, श्री पद्मराज, श्री कुटुम्बाराव, श्री रजनीकान्तराव, श्री गोरा शास्त्री, श्री रामचन्द्र मूर्ति, श्री वीरभद्रराव, श्री जनमंचि आदि की आन्ध्रदेश में काफी प्रसिद्धि हुई है।

"आन्ध्र नाट्य कला परिषद्" आजकल नाटक और रंगमंच दोनों के उत्थान का प्रयत्न कर रही है।

विदेशी नाट्य साहित्य का भारतीय नाट्य साहित्य पर प्रभाव

यह पहले कहा जा चुका है कि भारत और यूनान दो देशों में सर्व-प्रथम नाट्य कला और नाट्य साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, भारत में यूनान के भी पहले। प्राचीन यूनान के हमें तीन प्रमुख नाट्यकार मिलते हैं और इनका नाट्य साहित्य—एक एसचीलस, दूसरा सोफोक्लीज और तीसरा यूरिपिडस। ये तीनों ही नाटककार ईसा के लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व हुए थे। इनके नाटकों में त्रासदी (ट्रेजेडी) का सबसे अधिक महत्त्व है। उस काल में भारत और यूनान का सम्बन्ध तो शायद हो गया था, परन्तु यूनान के नाट्य साहित्य का कोई प्रभाव भारत पर दृष्टिगोचर नहीं होता, जो इस प्रधान बात से सिद्ध होता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में त्रासदी नाटक ही नहीं है, वरन् त्रासदी नाटक रचना ही यहाँ वर्जित थी। अतः संस्कृत में उस समय के प्राप्य सबसे प्राचीन भासकवि के नाटकों से लेकर भवभूति के नाटकों तक जो काल संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति से लेकर विकास तक का रहा है, यूनान अथवा किसी भी विदेशी नाटक साहित्य से एकदम अप्रभावित है।

भवभूति के बाद जैसा पहले कहा गया है, भारतीय नाट्य साहित्य का ईसा के बाद की लगभग पन्द्रहवीं शताब्दी तक प्रायः लोप-सा हो गया था। पन्द्रहवीं सदी में भी बंगाल, असम और उत्कल को छोड़ अन्य क्षेत्रों में नाटक का कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। बंगाल, असम और उत्कल में भी पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में जो अभिनय होता था उसमें नाट्य रहते हुए भी नाटक साहित्य का कोई विकास नहीं हुआ था। भारत में आधुनिक नाट्य साहित्य का निर्माण फिर से उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास आरम्भ हुआ और यह भारत की आधुनिक सभी भाषाओं में। भारत में नाट्य जगत के इस नव जागरण में पश्चिम का भारतीय नाट्य साहित्य पर अवश्य प्रभाव पड़ा है और वह भी थोड़ा बहुत नहीं, काफी। इस समय भारत पर अंग्रेजी राज्य फैल रहा था और फैल गया था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ हो गयी थी और अंग्रेजी शिक्षा के साथ अंग्रेजी भाषा के साहित्य से भी भारत का परिचय बढ़ चुका था। सोलहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में शेक्स-पियर और सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस में मोलियर, दो महान् नाटककारों ने ऐसे नाट्य साहित्य की रचना की जो नाटक साहित्य की दृष्टि से भी महान् थे और रंगमंच पर भी महान् ही सिद्ध हुए। अंग्रेजी भाषा के साहित्य से हमारा परिचय बढ़ता ही जा रहा था। शेक्सपियर के नाटक हमारे देश के पाठ्यक्रमों में आये और इस देश के सभी भाषाओं के नाट्य साहित्य पर इनका प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी भाषा एक अत्यंत समृद्ध भाषा थी। अंग्रेजी में पश्चिम की अन्य भाषाओं के सभी महान् साहित्य का अनुवाद मौजूद था। मोलियर के नाटकों का भी अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका था। परन्तु पाठ्यक्रमों में मौलिक ग्रन्थ ही रखे जाते थे; अतः मोलियर के कुछ नाटकों का तो भारत की कुछ भाषाओं में अनुवाद हुआ, परन्तु मोलियर के नाट्य साहित्य का भारतीय नाट्य साहित्य पर शेक्सपियर के सदृश प्रभाव नहीं पड़ा। अठारहवीं शताब्दी में जर्मनी में गेटे और शिलर दो महान् नाटककार हुए थे, परन्तु इनका भी उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास भारत में जिस नाट्य साहित्य का विकास हुआ उस पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। गेटे के प्रसिद्ध नाटक "फास्ट" तक का किसी भारतीय भाषा में प्रयत्न करने पर भी मुझे कोई अनुवाद नहीं मिला। "फास्ट" पर अवलम्बित हिन्दी में श्री हरिकृष्ण जौहर का मैंने एक "नरपिशाच" नामक उपन्यास अवश्य देखा था, परन्तु इसे "फास्ट" का कोई प्रामाणिक अनुवाद नहीं कहा जा सकता, फिर "फास्ट" नाटक है और "नरपिशाच" उपन्यास।

आधुनिक काल के नारवे में सबसे महान् युगप्रवर्तक नाटककार इब्सन की नाट्य रचना आरम्भ हुई। इब्सन का प्रभाव इस काल के संसार के सभी नाटककारों पर पड़ा। स्वीडन के स्ट्रिंडबर्ग, इंगलैण्ड के बर्नार्डशा और गाल्सवर्दी, आयरलैंड के सिंजे, फ्रांस के ब्रूइक्स, जर्मनी के हाप्टमैन, इटली के पिरेंडिलो, बेल्जियम के मेटरलिंक, रूस के चेखव, अमरीका के यू० जी० ओ' नील आदि इस काल के पश्चिम के महान् नाटककार माने जाते हैं। ये सभी इब्सन के अनुयायी हैं। भारत के वर्तमान नाटककारों पर भी इब्सन का प्रभाव कम नहीं पड़ा है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न और उठता है। पश्चिम के इस प्रभाव को हमारी साहित्यिक मान्यताओं में, जिनका सम्बन्ध हमारी संस्कृति से है, हम कितनी दूर तक आत्मसात् और समरस कर सके हैं, और कितनी दूर तक इस प्रभाव ने हमारी साहित्यिक मान्यताओं में विस्फोट किया है। जहाँ तक आधुनिक टैकनीक का सम्बन्ध है, विस्फोट का प्रश्न नहीं उठता, परन्तु जहाँ तक आदर्शों का एवं समस्याओं का सम्बन्ध है, यह प्रश्न अवश्य उठता है। भारतीय जीवन के आदर्शों और पश्चिमी जीवन के आदर्शों में महान् अन्तर है। हमारे आदर्श आध्यात्म की नींव पर अवलम्बित हैं। जो लोग यह समझते हैं कि अधिभूत की हमने अवहेलना की है, उनसे मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु हमारे अधिभौतिक जीवन की नींव आध्यात्म रहा है। पश्चिमी जीवन की नींव और उस नींव पर बना हुआ भवन दोनों ही अधिभूतमय है। आधुनिक भारतीय नाटक में आध्यात्मिक आदर्श छूटते जा रहे हैं। सब कुछ अधिभूतमय होता जा रहा है। यह बड़ा भारी विस्फोट है जिसे पश्चिम के प्रभाव ने हमारे नाटक में किया है। जहाँ तक समस्याओं का सम्बन्ध है, हमारे आधुनिक अनेक नाटककारों ने अपनी नाट्य रचना ऐसी समस्याओं पर की है जो भारतीय जीवन की समस्याएँ ही नहीं हैं।

ज्ञान का प्रकाश, चाहे वह कहीं से भी आवे, ग्राह्य होना चाहिए, परन्तु उस प्रकाश का काम मार्ग प्रदर्शन होना चाहिए। प्रकाश मार्ग प्रदर्शन भी करता है और दृष्टि को चकाचौंध भी कर देता है, जिससे फिर हमें ठीक वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती। शेक्सपियर और इब्सन के सदृश नाटककार हमें नाट्य साहित्य के निर्माण की टैकनीक दिखाने के काम में आ सकते हैं; परन्तु यदि हमारी दृष्टि इनके आलोक से चकाचौंध हो जाय तो फिर हमारा

नाट्य साहित्य भारतीय न रहकर और कुछ हो जायगा । हमारे नाटककारों में इनके प्रभाव के कारण यह दोष नहीं आया है, यह नहीं कहा जा सकता ।

भारतीय नाट्य साहित्य का स्थान

जैसा पहले कहा गया है, भारत में नाट्य साहित्य का उदय बहुत प्राचीन काल से हुआ है । यह कुछ आश्चर्य की बात अवश्य है कि भवभूति के पश्चात् उन्नीसवीं शताब्दी के आसपास तक भारत में नाट्य साहित्य एकदम शिथिल सा पड़ गया था यद्यपि आधुनिक भारतीय भाषाओं का जन्म ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास हुआ । संस्कृत भाषा में नाट्य साहित्य का इतना विकास हो जाने के उपरांत अनेक शताब्दियों तक इस देश में नाट्य साहित्य के निर्माण न होने का कारण पूर्ण रूप से समझ में नहीं आता । पुराना संस्कृत का नाट्य साहित्य और आधुनिक भारतीय भाषाओं का नाट्य साहित्य सभी पर हम गौरव कर सकते हैं । मुझे अंग्रेजी द्वारा संसार के महान् नाट्य साहित्य के अवलोकन का कुछ अवसर मिला है । हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में से कुछ का नाट्य साहित्य हिन्दी तथा उन भाषाओं के द्वारा पढ़ने और कुछ का भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों द्वारा सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । इस देश की प्रायः सभी भाषाओं के नाटकों को मैंने रंगमंच पर देखा भी है । अपनी विदेश की यात्राओं में मैं करीब-करीब सभी देशों के नाटकों का रंगमंच पर प्रदर्शन देख चुका हूँ । और जो कुछ मैंने पढ़ा, सुना और देखा है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि भारत का प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही नाट्य साहित्य संसार के किसी भी देश से कम नहीं है । सब मिलकर तो भारत इस क्षेत्र में शायद सबसे आगे और प्रथम होगा ।

नाट्य शास्त्र

(रूपरेखा)

१. शास्त्र शब्द का विवेचन। शास्त्र कला का सिद्धान्त-पक्ष। शास्त्रीय साहित्य और सृजनात्मक साहित्य का अन्तर। शास्त्र की उपयोगिता।

२. नाट्य शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थविकास का विश्लेषण। नाट्य, नृत्य और नृत्त का वैषम्य-निरूपण।

३. नाट्य शास्त्र की परिभाषा और उसकी उपयोगिता का निर्णय।

४. संस्कृत की नाट्य शास्त्रीय परंपरा के क्रमिक विकास का संक्षिप्त परिचय।

शिलालिन और कृशाश्व। भरत-पुत्र कोहल, दत्तिल, शांडिल्य और वत्स्य। संग्रहकार। कात्यायन, राहुल और गर्ग। मात्रगुप्त।

दशरूपककार धनंजय। दशरूपक का संक्षिप्त परिचय और धनंजय की उपलब्धियों पर दृष्टिपात।

सागर कृत "नट् कला लक्षण रत्न कोष।"

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र कृत "नाट्य दर्पण"। इसका महत्त्व-निरूपण और सामान्य परिचय। रुय्यक।

शारदातनय कृत "भाव प्रकाशन"। सामान्य परिचय और मूल्यांकन। विश्वनाथ कृत "साहित्य दर्पण"।

"नाट्य शास्त्र" अथवा "भरत शास्त्र"। संस्कृत नाट्य शास्त्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि। लेखक निर्णय और महत्त्व-निरूपण। भरत नाट्य शास्त्र के आद्याचार्य। "नाट्य शास्त्र" के दो रूपान्तर।

५. दक्षिणी भारत की भाषा तमिल का नाट्य शास्त्र।

६. पाश्चात्य नाट्य शास्त्रीय परंपरा—

अफलातूं और अरस्तू।

आद्याचार्य अरस्तू। मौलिक योगदान-विरेचन सिद्धान्त। परंपरावादी आलोचक होरेस। मौलिक योगदान। औचित्य सिद्धान्त।

नवोत्थान काल। नव्यशास्त्रवादी युग।

रोमानी अभिव्यंजनावाद, यथार्थवाद, स्वाभाविकवाद, काव्यात्मक प्रतीकवाद ।

७. संस्कृत नाट्य शास्त्र और पाश्चात्य नाट्य शास्त्र का वैषम्य-निरूपण ।

८. हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का नाट्य शास्त्र ।

९. नये नाट्य रूपों का परिचय—
एकांकी नाटक का क्रमिक विकास और शिल्पविधान ।
रेडियो नाटक । प्रमुख प्रभेद । विशेषताएँ । तत्त्व । रेडियो नाटक की आलोचना । कुछ सुझाव ।
फिल्मी नाटक की विशेषताएँ और तत्त्व ।
टेलीविजन नाटक

१०. रंगमंचीय नाटकों का महत्त्व प्रतिपादन ।

नाट्य शास्त्र

शास्त्र शब्द का विवेचन

जैसा कि आपको विदित ही है, मेरे आज के भाषण का विषय है "नाट्य शास्त्र"। नाट्य शास्त्र में दो शब्द हैं, नाट्य और शास्त्र। प्रस्तुत विषय पर मैं अपना वक्तव्य देने से पूर्व यह उचित समझता हूँ कि हम इन दोनों शब्दों को स्पष्ट रूप से समझ लें। पहले मैं शास्त्र को लेता हूँ। यों तो शास्त्र के लिए साहित्य में अनेक परिभाषाएँ तथा व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, किन्तु यह शब्द अब एक विशिष्ट अर्थ के लिए प्रायः रूढ़ हो गया है। शास्त्र का बहुमान्य तथा प्रचलित अर्थ है विज्ञान अथवा कला की किसी शाखा या उप-शाखा का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए उसके लिए नियमों, सिद्धान्तों का निर्धारण कर मानदण्डों को स्थिर करनेवाला साहित्य। शास्त्र के अन्तर्गत सृजनात्मक साहित्य तो निश्चय ही नहीं आता, अपितु अधिकांश आलोचना भी नहीं आती। सृजनात्मक साहित्य का सम्बन्ध है अनुभूति और सवेदन से, जब कि शास्त्र का चिन्तन और अध्ययनशीलता से। एक वाक्य में हम शास्त्र को कला का सैद्धान्तिक पक्ष कह सकते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना के लिए सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और नियमित अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य-शास्त्र में शास्त्र कुछ ऐसे कटे-छटे सूत्र प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है जो विभिन्न साहित्य-विधाओं की शक्तियों और सीमाओं का निर्धारण करते हैं। शास्त्र का सम्बन्ध परम्परागत चिन्तन से है। वह सृजनात्मक साहित्य के लिए आधार भित्ति का कार्य करता है। वह सृजनात्मक साहित्य का अनुवर्ती भी होता है और उसका मार्ग-दर्शक भी। अनुवर्ती इस दृष्टि से कि पहले साहित्य की सर्जना होती है, फिर उसी के विश्लेषण के आधार पर शास्त्रीय सूत्रों की रचना की जाती है; और मार्ग-दर्शक इस दृष्टि से कि वह साहित्यिक मूल्यों की अवतारणा द्वारा मौलिक साहित्यकार के कृतित्व को दिशा प्रदान करता है। शास्त्रीय ग्रन्थ चूंकि साहित्य के मानदण्ड प्रस्तुत करते हैं; अतः उनका अध्ययन आलोचकों के लिए तो एक प्रकार से अपरिहार्य ही है। फिर किसी साहित्य की शास्त्रीय परम्परा से अवगत हुए बिना उसका उपयुक्त मूल्यांकन एवं विवेचन प्रस्तुत कर पाना लगभग असम्भव ही है। इसलिए मैं नाट्य-रचना और उससे जुड़ी हुई समस्याओं का विवेचन करने के साथ ही यह भी उपयुक्त समझता हूँ कि उससे सम्बद्ध शास्त्रीय परम्परा का भी विश्लेषण कर लिया जाय।

नाट्य शब्द का विवेचन

"शास्त्र" के बाद मैं "नाट्य" को लेता हूँ। "नाट्य" शब्द की उत्पत्ति और उसके अर्थविकास को लेकर भी साहित्य चिन्तकों में कम वाद-विवाद नहीं है। नाट्य-दर्पणकार रामचन्द्र ने इसकी उत्पत्ति "नाट्" धातु से मानी है। किन्तु पाणिनि का मत है कि यह शब्द "नट्" धातु से उत्पन्न हुआ है। प्रायः पाणिनि का मत ही अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक माना जाता रहा है। "नाट्य" की उत्पत्ति "नाट्' से मानी जाने की भ्रांति का भी एक कारण है और वह यह कि वैबर तथा मौनियर विलियम सरीखे उद्भट् विद्वानों ने "नट्" धातु को "नृत्" का प्राकृत रूप माना है। अन्य मनीषियों ने इस भ्रम का निराकरण तो कर दिया, किन्तु इसका निषेध वे नहीं कर पाये कि "नट्" की उत्पत्ति "नृत्" के बाद हुई है। उनका तर्क यह है कि "नृत्" का प्रयोग ऋग्वेद तक में प्राप्य है, जबकि "नट्" से हमारे परिचय का माध्यम पाणिनि ही है। किन्तु डा० त्रिगुणायत का कथन है कि "नट्" का प्रयोग उन्हें ऋग्वेद में भी प्राप्त हुआ है। उनके अनुसार "नट्" और "नृत्" ये दोनों धातुएँ ऋग्वेद काल से ही स्वतन्त्र और निरपेक्ष रूप में प्रचलित रही हैं।

वास्तविकता यह है कि नाट्य, नृत् और नृत्य इन तीनों शब्दों में बाहरी साम्य दिखायी देने पर भी इनकी आत्माओं में पर्याप्त वैषम्य है। इस दिशा में दशरूपककार धनंजय का मत सर्वाधिक मान्य तथा अधिकृत समझा जाता है। धनंजय के अनुसार नाट्य का अर्थ है "अवस्था की अनुकृति"। अवस्था की अनुकृति से आचार्य का क्या तात्पर्य है, इसे स्पष्ट करते हुए उनके टीकाकार धनिक ने लिखा है—"काव्य में जो नायक की धीरोदात्त आदि अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, उनकी एकरूपता जब वह (अभिनेता) अभिनय के द्वारा प्राप्त कर लेता है, तब वही एकरूपता की प्राप्ति नाट्य कहलाती है। उसमें आंगिक अभिनय के साथ सात्विक अभिनय भी होता है। उसका विषय रस है, इसलिए वह रसाश्रित कहलाता है।"

यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने की है कि अरस्तू ने भी नाट्य-रचना की मूल प्रेरणा "अनुकरण की सहज वृत्ति" को ही माना है। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने त्रासदी को "अवस्था की अनुकृति" न मानकर "कार्य की अनुकृति" माना है, किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कार्य के प्रेरणातत्त्व हैं "चारित्र्य और विचार"। मैं समझता हूँ कि नायक की

"अवस्था" तथा उसके "चारित्र्य और विचार" में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए।

"नाट्य" और "नृत्य" का आधारभूत अन्तर यह है कि नाट्य तो होता है रसाश्रित, जबकि नृत्य भावाश्रित होता है। नृत्य में सात्विक अभिनय के स्थान पर आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। "नृत्य" की सीमा और भी अधिक संकीर्ण तथा उसका स्वरूप और भी अधिक स्थूल होता है। नृत्य और नृत् की प्रकृति में मूलगत वैषम्य यह है कि नृत्य का आधार भाव होते हैं, किन्तु नृत् का ताल और लय। नृत् केवल ध्वनिसाम्य के सहारे चलता है, न तो उसमें अभिनय होता है, न भावप्रवणता; रस का तो उसमें प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए कुछ विद्वानों ने नृत्य और नृत् को नाट्य की ही प्राथमिक भूमिकाएँ माना है। धनंजय और धनिक की व्याख्याओं के आधार पर नाट्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—नायक की धीरोदात्त, धीरोद्धत आदि अवस्थाओं के आंगिक एवं सात्विक अभिनय द्वारा रस-परक अनुकरण को नाट्य कहते हैं। किन्तु इधर आकर नाट्य का अर्थ कहीं अधिक व्यापकतर हो गया है और वह अंग्रेजी के "प्ले" अथवा "ड्रामा" का पर्याय बन गया है। आज वह किसी "अवस्था" अथवा "कार्य व्यापार" की अनुकृति न रहकर पूरे जीवन की, सम्पूर्ण मानवीय व्यापारों की अनुकृति बन गया है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र की रूपरेखा

नाट्य एवं शास्त्र इन दोनों शब्दों का विवेचन करने के उपरांत अब मैं आपके समक्ष संस्कृत के नाट्य-शास्त्रीय साहित्य की एक अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयास करूँगा। पाणिनि के ग्रन्थ में उल्लिखित दो नामों शिलालिन और कृशाश्व के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने नाट्य-रचना के विषय में कुछ लिखा था, किन्तु चूंकि इन दोनों के ग्रन्थों की कोई भी प्रति उपलब्ध नहीं है; इसलिए उनके विवेच्य विषयों के बारे में कोई प्रमाणित अभिमत व्यक्त कर पाना असंभव है। यह अनुमान किया जाता है कि नर्त्तकों और मूक अभिनेताओं के लिए उन्होंने कतिपय नियमों का निर्धारण किया था। कुछ विद्वानों के मतानुसार भरत के नाट्य शास्त्र में उनकी सभी मान्यताओं का समाहार हो गया है। उनके उपरांत भरत के कुछ पुत्रों, जिनमें कोहल, दत्तिल, शाण्डिल्य और वत्स्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, का नाट्य-शास्त्रज्ञ के रूप में स्मरण किया जाता है। शिलालिन और

कृशाश्व के बाद के लेखकों में कोहल का नाम कुछ महत्त्वपूर्ण है। नाट्य शास्त्र के एक रूपान्तर में भविष्यवाणी के रूप में यह कहा गया है कि एक परिशिष्ट-ग्रन्थ में कोहल उन सब विषयों पर अपने मत अभिव्यक्त करेंगे, जिन पर भरत ने विचार नहीं किया है। अभिनव आदि के यहाँ प्राप्य उद्धरणों के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि कोहल के लेखन-विषय थे नृत्य, नाट्य कला तथा संगीत।

दत्तिल को "नाट्य शास्त्र" में उल्लिखित दंतिल का ही दूसरा नाम माना जाता है। अभिनव गुप्त ने भी दत्तिलाचार्य के कई उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। दत्तिल के साथ ही उल्लिखित शाण्डिल्य और वत्स्य के नाम कोई महत्त्व नहीं रखते। हो सकता है कि उन्होंने रंगमंच और नाट्य-रचना के कतिपय पक्षों पर कुछ लिखा हो। पहली शती के कुछ शिलालेखों में शतकर्ण का नाम भी प्राप्त होता है। बहुत सम्भव है कि वह उस प्रकार के राजाओं में से एक रहा हो, जो कला के विभिन्न प्रकारों में गहरी रुचि लेते थे और उन पर कुछ न कुछ लिखने का प्रयास भी करते थे। परवर्ती नाट्य-शास्त्रज्ञों ने उसके कुछ उद्धरण दिये हैं, इससे अनुमान किया जाता है कि उसने नाट्य-रचना पर कुछ लिखा होगा। एक स्थान पर अभिनव गुप्त ने किसी "संग्रह" और अन्यत्र "संग्रहकार" की भी चर्चा की है। "नाट्य शास्त्र" में भी किसी "संग्रह" का नामोल्लेख है। इससे लगता है कि उसमें भी नाट्य-रचना के किसी पक्ष पर कुछ कहा होगा। निश्चयपूर्वक उसके विषय में कुछ कह पाना असंभव है। इसके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर, सदाशिव, व्यास प्रभृति विद्वानों का नाम भी इस सन्दर्भ में लिया जाता रहा है, जो विशेष महत्त्व नहीं रखते। हाँ, कात्यायन, राहुल और गर्ग को थोड़ा बहुत श्रेय अवश्य प्राप्त है। "वर्तिकाकार" हर्ष का नाम भी इस दिशा में लिया जाता है। "मात्रगुप्त" का उल्लेख लेबी ने "नाट्य शास्त्र" के व्याख्याता के रूप में किया है। किन्तु कुछ विद्वानों का मत यह है कि उसने एक स्वतन्त्र कृति की रचना की थी। यह सम्भव है कि उसने "नाट्य शास्त्र" के लेखक की कुछ मान्यताओं की अपने ग्रन्थ में गद्य में व्याख्या की हो। उसकी जीवनी के विषय में अधिकृत सामग्री उपलब्ध न होने के कारण कुछ विद्वानों ने हर्ष विक्रमादित्य के समकालीन एक कवि से, जिसने "वर्तिका" नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी, उसका एकात्म कर दिया है। अग्नि पुराण में भी नाट्य, नृत्य और रस का प्रासंगिक विवेचन प्राप्त होता है, किन्तु वह प्रायः भरत मुनि के "नाट्य शास्त्र" पर ही अवलम्बित है।

नाट्य शास्त्र लेखन के क्षेत्र में "दशरूपक" का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि "नाट्य शास्त्र" के बाद इसी ग्रन्थ में नाटक का वैज्ञानिक और विवेक सम्मत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जैसा कि इसके नाम से ही ध्वनित होता है, "दशरूपक" में नाटक के दश रूपों की व्याख्या की गयी है, जो "नाट्य शास्त्र" के २० वें अध्याय का विषय है।

किन्तु नाट्य शास्त्र का कोई भी सजग विद्यार्थी इस ग्रन्थ का अध्ययन करते समय यह अनुभव करेगा कि अतिरिक्त संक्षिप्तता और क्रमबद्धता के प्रति धनंजय का आग्रह इतना प्रबल रहा है कि उसके विवेचन में नाट्य शास्त्र से सम्बद्ध कई अत्यन्त आवश्यक विषय छूट गये हैं। नाटक के सैद्धांतिक पक्ष पर अत्यधिक बल देने के कारण उसके अभिनय-पक्ष के विषय में धनंजय प्रायः मौन रहा है और रंग-विधान आदि के सम्बन्ध में उसने कोई निर्देश नहीं दिये हैं। अरस्तू की भाँति नाटक की अभिनेयता के प्रति उसका कोई आकर्षण नहीं है। दशरूपककार "नाट्य शास्त्र" को सही परिप्रेक्ष्य में न रख पाने के कारण यह भूल जाता है कि उसकी रचना करते समय भरत के सामने नाटककार ही नहीं, अभिनेता, निर्माता और निर्देशक भी रहे थे। अपनी इन सीमाओं के बावजूद समय बीतने पर जो लोकप्रियता और मान्यता "दशरूपक" को प्राप्त हुई, वह "नाट्य शास्त्र" से भी कहीं बढ़-चढ़कर थी। ऐसा लगता है कि बीच में "नाट्य शास्त्र" दुष्प्राप्य हो गया था और उसकी बहुत कम प्रतियाँ उपलब्ध थीं।

दशरूपककार धनंजय ने छः कोणों से नाटक की विशेषताओं की व्याख्या प्रस्तुत की है—प्रारम्भिक विधान और वृत्ति, कथावस्तु, नायक, रस वर्ज्य दृश्य और अंक। प्रारम्भिक विधानों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—"नाटक में सबसे पहले सूत्रधार के द्वारा पूर्व रंग का विधान होना चाहिए। सूत्रधार के चले जाने पर उसी के सदृश दूसरे नट के द्वारा स्थापन, आमुख, या प्रस्तावना की जानी चाहिए। स्थापक को चाहिए कि दिव्य वस्तु की दिव्य होकर, मर्त्य की मर्त्य होकर तथा मिश्र वस्तु की दोनों में से किसी एक का रूप धारण कर स्थापना का विधान करे। स्थापना वस्तु, बीज मुख अथवा पात्र इनमें से किसी एक की सूचना देनेवाली होनी चाहिए। पुनश्च किसी ऋतु का आश्रय लेकर भारती वृत्ति से सन्निबद्ध रंगस्थल को

आमोदित करनेवाले श्लोकों का पाठ करे । इस प्रारम्भिक दृश्य में वीथ्यंगों अथवा आमुखांगों की योजना भी की जानी चाहिए । आमुख का विधान करते समय सूत्रधार नटी, मारिष या विदूषक से अपने संलाप के मध्य कथा का संकेत कर देता है ।" आमुख स्थापना या प्रस्थापना के भी धनंजय ने तीन प्रकार माने हैं—कथोद्घात, प्रवर्त्तक और प्रयोगातिशय । आमुख के ये अंग बीथी के भी अंग माने जाते हैं ।

दशरूपककार के अनुसार कथा का चयन किसी ऐतिहासिक ग्रन्थ में से किया जाना चाहिए और कथा के उन अंशों का, जो नायक अथवा रस के समर्थक न हों, परिष्कार कर दिया जाना चाहिए । वस्तु का विन्यास कार्यावस्थाओं, अर्थ प्रवृत्तियों तथा सधियों के अनुकूल ही होना चाहिए । धनंजय कथा के बीच में विष्कम्भक आदि अर्थापक्षेपकों के भी पक्षधर हैं ।

"दशरूपक" का ही समकालीन अथवा उससे कुछ ही पहले लिखा गया ग्रन्थ "नट्टक लक्षण रत्नकोष" है, जिसका रचयिता है सागर । पहले इस ग्रन्थ के यहाँ वहाँ बिखरे हुए उदाहरण ही प्राप्य थे, किन्तु १६२२ में इसकी प्रतिलिपि लेवी को मिल गयी और उन्होंने इस पर एक वक्तव्य प्रकाशित कराया । इस कृति का विषय भी प्रमुखतः नाटक का सिद्धांत पक्ष ही है, किन्तु इसका प्रणेता उसके व्यावहारिक पक्ष को अस्पृश्य नहीं मानता और रंग-विधान, अभिनय आदि के विषय में भी कुछ सामान्य संकेत देता चलता है । दशरूपककार की भाँति उसकी दृष्टि एकमात्र नाटक के सिद्धांत-निरूपण पर ही केन्द्रित नहीं है । उसने उससे जुड़ी हुई समस्याओं के समाधान प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है । आचार्य भरत का उस पर भी गहरा प्रभाव है और कहीं-कहीं तो वह "नाट्यशास्त्र" से परिच्छेद के परिच्छेद उद्धृत करता चला जाता है ।

"दशरूपक" के उपरांत उपलब्ध होनेवाले नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में "नाट्य दर्पणकार" रामकन्द्र तथा गुणकन्द्र के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं । "नाट्य दर्पण", जो चार अध्यायों में विभाजित है, नाटक के विविध पक्षों की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करता है । इस ग्रन्थ की रचना अनुष्टुप छन्द में की गयी है । अतिरिक्त संक्षिप्तता के कारण "दशरूपक" की भाँति यह ग्रन्थ भी कुछ-कुछ दुरूह हो गया है और टिप्पणियों के अभाव में कठिनता से समझ में आता है । इसके लेखकों ने कई प्रसिद्ध नाट्यालोचकों की आलोचना की है,

जिनमें धनंजय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है । यही कारण है कि "नाट्य दर्पण" को अनन्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है और उसे "दशरूपक" से भी श्रेष्ठतर आसन दिया जाता है ।

कहा जाता है कि प्रसिद्ध काव्य शास्त्रज्ञ रुय्यक ने भी "नाट्य मीमांसा" नाम से एक नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी, किन्तु चूंकि उसकी कोई प्रति प्राप्य नहीं है; इसलिए उसके विषय में विश्वासपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

इसके बाद "भाव प्रकाशनकार" शारदातनय का नाम आता है, जिसने भरत मुनि अथवा धनंजय की अपेक्षा नाट्य-रचना की कहीं अधिक विस्तृत व्याख्या को प्रस्तुत किया है । नाटक के अभिनय-पक्ष का जितना सुव्यवस्थित विवेचन इस ग्रंथ में प्राप्त होता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है । लेखक ने कई पूर्ववर्ती नाट्य-शास्त्रज्ञों के उदाहरण भी दिये हैं और मत वैभिन्य होने पर उनकी आलोचना भी की है । जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, इसमें भाव प्रकाशित करने की विविध प्रणालियों की चर्चा की गयी है । इसमें भावों, नायिकाभेद, कथानक, नाट्य पदावली आदि विषयों का विशद् अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

इसके बाद प्रख्यात आचार्य और कवि विश्वनाथ का नाम आता है, जिन्होंने "साहित्य दर्पण" की रचना की है । "साहित्य दर्पण" में संस्कृत साहित्य के सभी रूपों की, जिसमें नाटक भी सम्मिलित है, गहन, गम्भीर आलोचना की गयी है । उसके छठे अध्याय का नाट्य शास्त्र से सीधा सम्बन्ध है ।

किन्तु नाट्य शास्त्र लेखन की दिशा में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नाम "नाट्य शास्त्र" ही है, जिसे संस्कृत नाट्य शास्त्र की बाइबिल सहज ही घोषित किया जा सकता है । इस ग्रन्थ की समीक्षा क्रम से हटाकर मैं अलग से इसलिए प्रस्तुत कर रहा हूँ, ताकि इसके गौरव की रक्षा की जा सके । इसकी रचना का श्रेय प्राय: भरत नामक व्यक्ति को दिया जाता रहा है । भरत नाम का कोई व्यक्ति कभी रहा ही होगा, दावे के साथ यह कह पाना संभव नहीं है, क्योंकि भरत का प्रारम्भिक और मौलिक अर्थ था अभिनेता; इसलिए यह कल्पना की जाती है कि इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम 'भरत शास्त्र" पड़ा होगा, जो नाट्य शास्त्र का ही दूसरा

नाम है। "नाट्य शास्त्र" का प्रणेता चाहे कोई भी रहा हो या रहे हों, किन्तु उसकी प्राचीनता और महत्ता असंदिग्ध है। आजकल "नाट्य शास्त्र" के दो रूपान्तर प्राप्य हैं, जिनमें से एक संक्षिप्त है, दूसरा अपेक्षाकृत विस्तृत। यह अधिकारपूर्वक कह सकना कठिन है कि इनमें से कौन-सा रूपान्तर अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय है। धनंजय और अभिनव गुप्त के विवेचन का आधार उसका संक्षिप्त रूपान्तर ही है। इस विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि इसका प्रामाणिक रूपान्तर चाहे कोई भी हो, किन्तु दोनों में प्रक्षिप्त अंशों का सर्वथा अभाव नहीं है। "नाट्य शास्त्र" में नाट्य कला का, जिसमें उसका अभिनय-पक्ष भी शामिल है, सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया गया है और लेखकीय निवेदन के अनुसार यह नाट्य निर्माताओं और नाट्यकारों दोनों के ही लिए लिखा गया है। इस ग्रन्थ की यह द्विमुखी उपयोगिता इसे और भी अधिक गौरव दिला सकने में समर्थ है। नाटक के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का इतना मार्मिक विश्लेषण अन्यत्र दुर्लभ है। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि परवर्ती नाट्य शास्त्रों पर इसका कितना सर्वग्राही प्रभाव पड़ा। इसकी रचना अधिकांशतः सूत्रों में की गयी है, जो अपनी संक्षिप्तता के कारण कहीं-कहीं दुरूह हो गये हैं। इसके टिप्पणीकारों की एक प्रशस्त परम्परा है और उनमें से कई नाम अत्यन्त आदरणीय हैं। नाट्य शास्त्र का कला संबंधी सारांश मैंने अपने भाषण "नाट्य कला" में प्रस्तुत किया है, यद्यपि जैसा मैंने उस भाषण में भी कहा है कि दोनों का पूर्ण विभेद संभव नहीं है।

भरत मुनि ने अपने शास्त्र में नाटक को पाँचवाँ वेद माना है। वे अपने शास्त्र के प्रारम्भ में ही लिखते हैं—

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदा दभिनयान रसानाथर्वणादपि॥

अर्थात् ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्व वेद से रस लेकर इस पाँचवें वेद की रचना हुई। और यह पाँचवाँ वेद कैसा महान् है, इस संबंध में भी भरत मुनि का ही कथन सुनिए—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥

अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई शिल्प नहीं, ऐसी कोई विद्या नहीं, ऐसी कोई कला नहीं, ऐसा कोई योग नहीं, ऐसा कोई कर्म नहीं जो नाटक में विद्यमान न हो।

भरत मुनि ने नाटक को दो विभागों में बाँटा—रूपक और उपरूपक। रूपक के दस निम्न भेद हैं—

१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. व्यायोग, ५. समवकार, ६. डिम, ७. ईहामृग, ८. अंक, ९. बीथी, १०. प्रहसन।

उपरूपक के निम्न अठारह भेद हैं--

१. नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४. सट्टक, ५. नाट्य रासक, ६. प्रस्थान, ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेखण, १०. रासक, ११. संलापक, १२. श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५. दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणिका, १७. हल्लीश, १८. भाणिका।

महाकवि कालिदास ने नाटक के संबंध में कहा है "शान्तः चाक्षुष यज्ञ"।

नाटक को रूपक संज्ञा इसलिए दी गयी है कि नाटक करनेवाला पात्र अन्य व्यक्ति का रूप धारण करता है।

नटस्य शृणोति वाक्य नाटक के संबंध में आया है जिसका यह अर्थ होता है कि जो नट द्वारा कहा जाता था, वह सुना जाता था, जिसका अर्थ यह हुआ कि नाटक को लोग सुनते थे, सुना वह तभी जा सकता था जब खेला जाता हो।

जिस प्रकार उत्तर भारत की संस्कृत सबसे प्राचीन और समृद्ध भाषा है, उसी प्रकार दक्षिण भारत की तमिल।

हमें नाट्य शास्त्र पर जिस प्रकार संस्कृत में अनेक प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं, उसी प्रकार तमिल में भी।

तमिल भाषा का प्राचीन नाट्य शास्त्र

ईसा के बाद की दूसरी शताब्दी के तमिल भाषा के महाकाव्य "सिलप्प-

दिकारम्" एवं इसीके समकालीन ग्रन्थ "मणिमेकलइ" में नृत्य कला और नाटक के संबंध में अनेक बातें कही गयी हैं। इनमें से "सिलप्पदिकारम्" के टीकाकारों ने इस ग्रन्थ के कुछ कथनों की व्याख्या करते हुए अन्य अनेक प्राचीन ग्रन्थों का उल्लेख किया है। तमिल भाषा के वैयाकरण तोलकाप्पियर ने अपने ग्रन्थ "तोलकाप्पियम" में भी तमिल भाषा की कुछ नाट्य परम्पराओं का उल्लेख किया है। "कला वियल" नामक व्याकरण के ग्रन्थ की टीका करते हुए नक्कीरर नामक एक विद्वान भी तमिल के नाट्य शास्त्र के ग्रन्थों के विषय में अनेक बातें कहते हैं। परन्तु, अब उपर्युक्त ग्रन्थों में से कोई भी ग्रन्थ प्राप्य नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि तमिल भाषा में नाटक पर कई शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये थे। इनसे तमिल भाषा के प्राचीन नाट्य साहित्य तथा उसके विकास का पता लग जाता है।

संस्कृत के नाटकों के वर्गीकरण के सदृश तमिल भाषा के नाटकों को भी निम्न विभागों में बाँटा गया था— वशइ कूत्तु (व्यंग्य नाटक), पुगल कूत्तु (प्रशंसा या स्तुति नाटक), वेदियल कूत्तु (राज नाटक), पोंदुवियल कूत्तु (लोक नाटक), वरि कूत्तु (संगीत नाटक), वरि-चण्डिकै कूत्तु (देवताओं की तुष्टि के लिए लिखे गये नाटक), विनोद कूत्तु (विनोद नाटक), आर्य कूत्तु (आर्यों के लिए विशेषकर लिखे गये नाटक), इयल्बु कूत्तु (प्रकृति नाटक), देसि कूत्तु आदि।

इस प्रकार उत्तर और दक्षिण भारत के नाट्य शास्त्र के क्रमिक विकास की रूपरेखा प्रस्तुत करने के उपरान्त मैं उचित समझता हूँ कि इस दिशा में किये गये पाश्चात्य विद्वानों के प्रयासों का भी निरीक्षण कर लेना चाहिए, ताकि हम दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने में समर्थ हो सकें।

पश्चिम का नाट्य शास्त्र

यद्यपि अफलातूं (प्लेटो) और अरस्तू (एरिस्टाटल) की कृतियों में नाट्य-रचना से सम्बद्ध कतिपय संकेतों के प्राप्त होने की बात कही जाती रही है, किन्तु इस क्षेत्र में अरस्तू को ही आद्याचार्य माना जाना चाहिए। अरस्तू की प्रतिभा बहुमुखी थी। यद्यपि भौतिक विज्ञान और उसके अन्तर्गत भी प्राणि विज्ञान ही उनका प्रमुख विषय था, किन्तु वे अन्य विद्याओं के भी प्रकाण्ड विद्वान थे। पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में उनका वही स्थान है जो हमारे

यहाँ भरत मुनि का। अरस्तू ने प्रमुखतः त्रासदी का ही विवेचन प्रस्तुत किया है। यह एक रोचक तथ्य है कि भरत की भाँति उन्होंने भी नाटक के तीन ही प्रमुख तत्त्व माने हैं—प्लाट (कथा), हीरो (नायक) और इमोशन (रस)। यह हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि अनुकरण की सहज वृत्ति को ही उन्होंने नाट्य-सृजन की मौलिक प्रेरणा घोषित किया है। इस विषय में उनकी स्थापना इस प्रकार है—"अनुकरण की सहज वृत्ति मनुष्य में शैशव से ही विद्यमान रहती है, उसमें और अन्य प्राणियों में एक अन्तर यह है कि जीवधारियों में वह सबसे अधिक अनुकरणशील होता है और आरम्भ में वह सबसे अधिक अनुकरण द्वारा ही सीखता है।" यह अनुकरण आह्लादकारी क्यों होता है, इस शंका का समाधान करते हुए वे लिखते हैं—"किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि वह उसका अवलोकन करने में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है ......(और) ज्ञान के अर्जन से प्रबल आनन्द प्राप्त होता है।" साहित्य-चिंतन को अरस्तू की सबसे बड़ी देन उनका विरेचन सिद्धांत ही है। उनकी मान्यता है कि त्रासदी-साहित्य पहले तो हमारे मन में सस्कार रूप में स्थित घृणा, द्वेष, भय आदि की भावनाओं को उत्तेजित कर उद्वेलित कर देता है और फिर विरेचन की प्रक्रिया के अनुसार उनका निष्कासन कर देता है। उनका कहना है कि "अपनी-अपनी संवेदन शक्ति के अनुसार प्रायः सभी इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद् और प्रसन्न हो जाती है"। इसी विरेचन सिद्धांत द्वारा ही साहित्य में करुण रस की स्थिति के औचित्य को सिद्ध किया जाता है। अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत शाश्वत और सार्वभौम है। उनकी चिन्तन प्रणाली वैज्ञानिक और ठोस तथ्यों पर आधृत है। यद्यपि उन्होंने नाटक और रंगमंच के सम्बन्ध की अनिवार्यता को स्वीकार नही किया है, फिर भी नाटक के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों पर उन्होंने अत्यंत सारगर्भित और मूल्यवान मत अभिव्यक्त किये हैं। उनके काव्य शास्त्र का रचनाकाल ३३० ई० पू० है।

अरस्तू के बाद नाट्य शास्त्र पर विचार करनेवाले शास्त्रज्ञों में होरेस का नाम मूर्धन्य है। होरेस मुख्यतः परम्परावादी आलोचक थे। यद्यपि उनकी मेधा उतनी प्रखर नहीं थी, तथापि उनके काव्य चिंतन का असामान्य प्रभाव परवर्ती साहित्य-मनीषियों पर पड़ा। यह सही है कि उनके काव्य-चिंतन में मौलिकता का अभाव है, किन्तु अपने समय तक उपलब्ध समस्त महत्त्वपूर्ण विचारों को

उन्होंने अत्यन्त वैज्ञानिक और सुलझी हुई रीति से प्रस्तुत किया है। नाट्य शास्त्र को होरेस का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है औचित्य सिद्धांत। उन्होंने नाट्य-रचना में विवेक, अनुपात, संतुलन और औचित्य को अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिया है। अपनी रचनाओं में औचित्य का ध्यान न रखनेवाले रचनाकारों को लक्ष्य कर वे कहते हैं— "यदि कोई चित्रकार अपने चित्र में घोड़े की गरदन और आदमी का सिर बनाये और शेष अंगों पर अनेक प्रकार के रंग-बिरंगे पंख लगा दे, जिससे एक ऐसी स्त्री का चित्र बन जाय, जिसका ऊर्ध्व भाग तो सुन्दर हो, किन्तु अधो भाग कुरूप मछली की भाँति विकृत और यदि उसे देखने के लिए आपको आमंत्रित किया जाय, तो मेरे मित्रो! क्या आप अपनी हँसी रोक सकेंगे? यदि किसी ग्रन्थ में इस तरह का असंभव बिम्ब विधान हो तो वह ठीक उसी चित्र के समान विचित्र प्रतीत होगा। वह एक रुग्ण व्यक्ति के दुःस्वप्नों के समान होगा। परिणामतः कोई भी विम्ब सार्थक नहीं होगा और उसका एकत्व नष्ट हो जायगा।" नाटककार को आदेश देते हुए वे कहते हैं कि "या तो तुम परम्परापालन में दृढ़ रहो या इसका ध्यान रखो कि तुम्हारे आविष्कारों में संगति हो।" होरेस साहित्य में नये प्रयोगों के तीव्र विरोधी थे; इसलिए उनके आतंक के कारण साहित्य मे वैविध्य तथा नवीनता का अवरोध हो गया और नाटककार रूढ़ियों के अंधानुकरण में संग्लन हो गये। नाटकों को अधिकाधिक पाँच अंकों मे बाँटने का आदेश पश्चिम में सर्वप्रथम होरेस ने ही दिया था।

मध्य काल में पश्चिम में नाटक का अधिक विकास नहीं हुआ। अरस्तू का नाट्य शास्त्र चूँकि अनुपलब्ध था; इसलिए होरेस का प्रभाव ही सर्वोपरि रहा। दियोमिदेस, डोनेटस, दांते प्रभृति साहित्य चिंतकों पर होरेस का प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है। मध्य युग के समापन पर नवोत्थान का काल आरम्भ होता है। इस काल के मनीषियों पर अरस्तू का प्रभाव सर्वाधिक गहरा था और अरस्तू होरेस से अधिक सम्माननीय स्थान प्राप्त कर चुके थे। १६वीं शताब्दी के चौथे दशक में पश्चिम में नव्यशास्त्रवादी (नियोक्लैसिकल) आन्दोलन ने जोर पकड़ा और साहित्य चिन्तन पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर लिया। सन् १६३६ से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक अनेक आचार्यों ने नाटक के विभिन्न अंगों पर अपनी अवधारणाएँ विद्वानों के समक्ष प्रकट कीं। रासिने, बुयलो, मोलियर आदि में अधिकांशतः अरस्तू और होरेस के चिंतन की ही प्रतिध्वनि सुनायी देती है। तदोपरान्त शेक्सपियर की बढ़ती हुई लोकप्रियता ने नाट्यकारों को रूढ़िवाद के अन्धानुगमन के प्रति शंकाकुल बना दिया और उसने

नाटककारों को मौलिकता की ओर मोड़ा। जर्मन आचार्य श्लेगल आदि ने नाटकों के लेखन और मूल्यांकन के लिए नये सिद्धान्तों और मूल्यों की अवतारणा की। विक्टर ह्यूगो के अनुसार समय और परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ-साथ काव्य रूपों का आदर्श भी परिवर्तित होता रहा है। नाटक सम्बधी ह्यूगो के विचार हैं कि "नाटक वह दर्पण है जिसमें प्रकृति परावर्तित होती है। यदि वह दर्पण साधारण दर्पण है और उसकी सतह समतल तथा पालिशयुक्त है तो वह वस्तुओं का क्षीण प्रतिबिम्ब ही अंकित कर सकेगा, जिसमें किसी प्रकार का आनन्द नहीं होगा। वह प्रतिबिम्ब सत्य अवश्य होगा, परन्तु रंगहीन रहेगा, क्योंकि यह भलीभाँति विदित है कि साधारण परावर्तन मे रंग और प्रकाश दोनों विलीन हो जाते हैं। अतएव नाटक को संगमकारी (focussing) दर्पण होना चाहिए, जिसके द्वारा रंगीन रश्मियाँ, बलहीन होने की अपेक्षा एकत्रित और संगठित होकर शिखा को प्रकाश में और प्रकाश को ज्वाला में परिणत कर सकें। तभी नाटक को कला कहलाने की सार्थकता प्राप्त हो सकती है।"

अंग्रेज नाट्यालोचकों में कालरिज का नाम अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। अविश्वास के स्वैच्छिक अवरोध की बात उन्होंने ही उठायी, जिसने नाटकीय-भ्रांति (ड्रैमेटिक फैलसी) के सिद्धांत को जन्म दिया। काण्ट, हीगेल, शापेनहावर सरीखे सौन्दर्यशास्त्र के आचार्यों ने भी नाट्य-रचना के विभिन्न पक्षों पर अपने मत अभिव्यक्त किये।

१९वीं शती के उत्तरार्द्ध में रोमानी अभिव्यंजनावाद के विरोध में यथार्थवाद उठ खड़ा हुआ और धीरे-धीरे बल पकड़ता गया। फिल्स, जोला, ड्यूमा आदि इस वाद के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। उन्होंने सामाजिक यथार्थ को ही अपनी रचनाओं का विषय बनाया। परन्तु इस यथार्थवाद का शनैः शनैः यह परिणाम हुआ कि साहित्यिक कृतियाँ अत्यन्त साधारण कोटि की होने लगीं। तब इस यथार्थवाद के स्थान पर नारवे के इब्सन ने साहित्य में एक नये वाद स्वाभाविकवाद को जन्म दिया। इब्सन पश्चिम के आधुनिक नाट्य कला और नाट्य साहित्य के जनक माने जाते हैं। इब्सन ने समस्या नाटकों की रचना के प्रति अधिक अनुराग प्रदर्शित किया। इब्सन के जीवन दर्शन को समझने के लिए यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि वह इस बात का पक्षधर था कि हर व्यक्ति—चाहे वह पुरुष हो या स्त्री—को अपनी प्रकृति और स्वभाव के अनुसार जीवन-यापन की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। वह जीवन की दुखान्तता का

एकमात्र कारण प्रणय की विफलता को ही घोषित करता है। उसकी मान्यता है कि जीवन में सन्धि के लिए कोई अवकाश नहीं है, किन्तु इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि उच्चादर्शों को जीवन में नहीं उतारा जाना चाहिए। बहुसंख्या पर आधृत शासन पद्धति का वह प्रबल विरोधी था और उसकी धारणा थी कि अल्पसख्यक प्राणियों का मत ही सदैव सही होता है।

संस्कृत नाट्य शास्त्र और पश्चिमी नाट्य शास्त्र का वैषम्य

उत्तर और दक्षिण भारत के नाट्य शास्त्र और पाश्चात्य नाट्य शास्त्र की परम्पराओं पर दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विभिन्न साम्यों के रहते हुए दोनों मे पर्याप्त वैषम्य भी है। इसीलिए यह कहना कि भारत का नाट्य शास्त्र यूनानी या रोमी नाट्य शास्त्र से प्रभावित है अथवा पाश्चात्य नाट्य शास्त्र भारत के नाट्य शास्त्र से, एक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? यह ध्यान रखने की बात है कि संस्कृत नाट्य-रचना अपने मूल में स्वच्छन्दतावादी है, जब कि यूनानी नाटक अधिकांशत: अभिजात-साहित्य की कोटि में आते हैं। सस्कृत नाटकों में संलकनत्रय के निर्वाह का ध्यान न तो अकों के बीच रखा गया है, न दृश्यों के। इससे इंगित होता है कि रूढ़ियों के अन्धानुकरण की प्रथा हमारे यहाँ नहीं है और हमने प्रतिभा को अधिक स्वतन्त्रताएँ लेने की छूट दी है। संस्कृत में दैवी चमत्कारपूर्ण पात्रों और घटनाओं का निस्संकोच समावेश किया जाता रहा है और पात्रों की संख्या भी अनिर्धारित रही है। संगीत, नृत्य और पद्य का समावेश भी हमारे नाटकों में अधिक मात्रा में किया जाता रहा है,क्योंकि भारतवासियों की रुचि सदा से ही काव्य प्रेमी रही है। चूँकि सस्कृत के नाट्य शास्त्रज्ञ स्वभावतः आदर्शवादी थे; इसलिए यथार्थ निरूपण से अधिक रसोद्रेक में ही वे अपनी प्रतिभा को केन्द्रित कर देते थे। रस जिसका पर्याय है आनन्द और आनन्द का अर्थ हमारे यहाँ किया गया है आत्मा का शुद्धबुद्ध साक्षात्कार। कथानक संगठन अथवा चरित्र की अपेक्षा हमारे नाटककारों का ध्यान रस सृष्टि की ओर ही अधिक रहा है। किन्तु फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि उनके पात्र अपना व्यष्टिरूप बनाये रहते हुए भी प्रतीक बन गये। यह कहना तर्कसंगत नहीं है कि संस्कृत की नाट्य रचनाओं में त्रासिद तत्वों का समावेश सर्वथा वर्जित था, सत्य केवल इतना ही है कि वे मृत्यु वध आदि के ऐसे दृश्य मंच पर उपस्थित करना पसन्द नहीं करते थे, जो दर्शकों में जुगुप्सा तथा निराशा का संचार करें। साथ ही यह

भी चेष्टा करते थे कि उनके नाटक सुखांत हों। इसकी पृष्ठभूमि में भारतीय जीवन दर्शन का प्रेरणातल आशावाद ही काम कर रहा है।

हिन्दी और अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का नाट्य शास्त्र

जहाँ तक वर्तमान भारतीय भाषाओं के अपने मौलिक नाट्य शास्त्र का प्रश्न है, उसके विषय में केवल यही कहा जा सकता है कि यद्यपि हिन्दी और भारत की सभी भाषाओं मे नाटक पर बहुत से ग्रन्थ निकले हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में इन भाषाओं के नाट्य साहित्य का इतिहास और नाटकों की समालोचना अधिक परिमाण में है। नाटक के शास्त्रीय और सिद्धान्त पक्ष के सम्बन्ध में इन ग्रन्थों मे जो कुछ लिखा गया है वह अधिकतर भरत मुनि के "नाट्य शास्त्र", धनजय के "दशरूपक" और पश्चिम के अरस्तू तथा होरेस के विवेचन पर ही आधारित है। हाँ एकांकी और रेडियो नाटकों के शास्त्रीय पक्ष पर अवश्य कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमे कुछ नये शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। यह शायद स्वाभाविक भी था, क्योंकि पूरे नाटक तो सैकड़ों वर्षों से चले आ रहे हैं। उनके शास्त्रीय पक्ष का निरूपण पूर्व और पश्चिम के साहित्य शास्त्री कर चुके थे। एकांकी और रेडियो की नाट्य कला का वर्तमान विकास आधुनिक है। अतः इन पर ही शास्त्रीय विवेचन सम्भव था। फिर भी मैं यहाँ उपर्युक्त प्रकार के ग्रन्थों का कुछ सक्षिप्त विवरण दूँगा।

हिन्दी में

हिन्दी में नाट्य शास्त्र के विवेचन की दिशा में पहला प्रयत्न मेधावी कवि और एक नाटककार उद्भट् साहित्यिज्ञ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का ही है। उनके निबन्ध का शीर्षक है "नाटक"। यह निबन्ध १८८३ में प्रकाश में आया। यह लेख अपनी मूल प्रकृति में व्याख्यात्मक होते हुए भी समीक्षात्मक और कुछ दूर तक सैद्धान्तिक बन गया है। इसमें नाटक के शास्त्रीय और व्यावहारिक दोनों पक्षों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है, परन्तु इस निबन्ध की आधार-सामग्री भी प्रायः सस्कृत के नाट्य शास्त्रों से ही ली गयी है। इतने पर भी संस्कृत के नाट्य रूपों के सन्दर्भ में हिन्दी के पूर्ववर्ती और समकालीन नाटकों के आख्यान में भारतेन्दु जी ने कुछ मौलिक सूझ-बूझ का भी परिचय दिया है। प्रसंगानुरूप उन्होंने हिन्दी नाटकों के उदाहरण भी दिये हैं और जिस क्षेत्र में कोई हिन्दी नाटक प्राप्त नहीं होता, वहाँ उसका अभाव सूचित कर दिया है। संस्कृत नाट्य

शास्त्रों में वरिणत दृश्य काव्य और उसके प्रभेदों का विश्लेषण प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रचलित कुछ नवीन नाट्य-भेदों की ओर भी इंगित किया है। नाटक में स्वाभाविकता का उन्होंने बड़ा भारी समर्थन किया है, यद्यपि इब्सन का स्वाभाविकवाद उस समय तक भारत में नहीं पहुँचा था। नाटकों में स्वाभाविकता का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं—

"अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है।"

ऐतिहासिक दृष्टि से भी और नाट्य-विवेचन को योगदान की दृष्टि से भी इस संक्षिप्त, पर सारगर्भित लेख का महत्त्व अक्षुण्ण है। आदि प्रयास होते हुए भी इसकी प्रौढ़ता और उपयोगिता को लेकर दो मत नहीं हो सकते। अत्यन्त सीमित कलेवर के बावजूद इस रचना में प्रतिकृति, नाट्य-रचना, अभिनय कला, अंक विभाजन, विदूषक, रस वर्णन आदि अनेक विषयों की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का "नाट्य शास्त्र" १६०१ में प्रकाश में आया। इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत के नाट्य शास्त्र पर ही अवलम्बित है और इसमें भारतेन्दु के "नाटक" जैसी मौलिकता नहीं मिलती; फिर भी इस क्षेत्र में दूसरा उल्लेख्य प्रयास होने की दृष्टि से इसका थोड़ा बहुत ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही। वैसे यह ग्रन्थ न तो अर्वाचीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में पुरातन नाट्य-मूल्यों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करता है, न ही नवोदित नाट्य-मूल्यों का विश्लेषण।

इसके बाद नाट्य विवेचन के क्षेत्र में अन्य उल्लेखनीय सामग्री है—डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का "नाट्य-प्रबन्ध" (१६०३), श्री चन्द्रराज भण्डारी का "नाट्य कला दर्शन" (१६२५), और श्री रमाशंकर शुक्ल का "नाट्य निर्णय" (१६३०)। ये तीनों ही कृतियां प्राचीन सामग्री की पुनरावृत्ति हैं और नाट्य शास्त्र विवेचन को आगे बढ़ाने में असमर्थ है।

अगली विचारणीय पुस्तक है डा० श्यामसुन्दर दास और डा० पीताम्बर दत्त का "रूपक रहस्य"। यह ग्रन्थ अपनी मूल प्रकृति में संस्कृत के नाट्य शास्त्रीय सिद्धांतों का हिन्दी संस्करण ही है, किन्तु लेखक-द्वय का सामग्री-संयोजन व्यवस्थित और विवेक-सम्मत है। यह ग्रन्थ भी नाट्य चिंतन की परम्परा को आगे नहीं बढ़ाता।

इसके बाद की श्री दिनेश नारायण उपाध्याय की "हमारी नाट्य परम्परा" (१९४०) और श्री शिखरचन्द भण्डारी की "नाट्य कला एवं साहित्य की रूपरेखाएँ" पुस्तकों में कुछ उपयोगी सूत्र प्राप्त होते हैं।

नाट्य-विवेचन के क्षेत्र में एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयास है श्री सीताराम चतुर्वेदी का "अभिनव नाट्य शास्त्र"। बड़ी साइज के ३९६ पृष्ठों का दो कालमों मे छपा हुआ यह एक दीर्घकाय ग्रन्थ है, जिसका प्रणेता अपने नाम के साथ अभिनव भरत का विशेषण प्रयोग करता है। यह ग्रन्थ भी मुख्यत: संस्कृत नाट्य शास्त्र पर ही आधृत है, किन्तु इसमें आवश्यकतानुसार पाश्चात्य नाट्य-चिंतकों के मतों का भी समाहार कर दिया गया है। इस ग्रन्थ में कुछ नये नाट्य-रूपों का भी परिचय दिया गया है; जैसे—एकांकी, रेडियो नाटक आदि। विभिन्न विषयों पर लेखक ने अपने कुछ मौलिक विचार भी प्रकट किये हैं और उनका मूल्य इसलिए अधिक है, क्योंकि लेखक का रंगमंच से सीधा सम्बन्ध रहा है और हिन्दी रंगमंच की व्यावहारिक असुविधाओं और शक्तियों का उसे पर्याप्त परिचय प्राप्त है। इस ग्रन्थ का प्रथम खंड ही प्रकाशित हुआ है। प्रथम खंड में दूसरे खंड के प्रकाशित होने की सूचना है, परन्तु, वह अब तक प्रकाशित नहीं हुआ, यद्यपि प्रथम खंड संवत् २००८ में निकला था।

"आधुनिक हिन्दी नाटक" पर डा० नगेन्द्र का लेख संक्षिप्त होते हुए भी सारगर्भित है और विषय का आधिकारिक सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत करता है।

सन् १९४८ और सन् १९५९ के बीच इधर हिन्दी नाटकों पर अनेक ग्रन्थ निकले हैं। इनमें अधिकांश ग्रन्थों को मैं देख पाया हूँ और इनमें प्रमुख ग्रन्थ हैं—

१. डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा रचित (क) "हिन्दी नाटक साहित्य का इति-

ह्रास" और (ख) "पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य" (सन् १९४८), २. डा० विश्वनाथ का "हिन्दी नाटकों का विकास" (सन् १९५१), ३. प्रो० जयनाथ नलिन का "हिन्दी नाटककार" (सन् १९५२), ४. डा० दशरथ ओझा कृत "हिन्दी नाटक" (यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रकाशन की कोई तिथि नहीं दी है, परन्तु इसकी भूमिका, जो डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखी है, वह सन् १९५४ की है।) ५. डा० रामचरण महेन्द्र कृत "हिन्दी नाटक के सिद्धात और नाटककार" (सन् १९५५), ६. श्री गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव का "हिन्दी में समस्या नाटक" (१९५५), ७. डा० वेदपाल खन्ना विमल का "हिन्दी नाटक साहित्य" (सन् १९५८), ८. डा०बच्चनसिंह कृत "हिन्दी नाटक" (सन् १९५८), ९. कुँवर चन्द्रप्रकाशसिंह का "मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परंपरा और भारतेन्दु" (सन् १९५८)।

उपर्युक्त ग्रन्थों में अधिकतर हिन्दी के नाट्य साहित्य का इतिहास और आलोचना ही मिलती है। जो शास्त्रीय विवेचन किया गया है वह संस्कृत के और पश्चिम के ग्रन्थों पर आधारित है।

हिन्दी के एकांकियों और रेडियो नाटकों पर जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं वे निम्न हैं—

(१) डा० सत्येन्द्र कृत "हिन्दी एकांकी", (२) डा० रामचरण महेन्द्र कृत "हिन्दी एकांकी और एकांकीकार" (सन् १९५३) और (ख) "हिन्दी एकाकी : उद्भव और विकास" (सन् १९५८); यह ग्रन्थ राजस्थान विश्व-विद्यालय द्वारा पी० एच० डी० के लिए स्वीकृत हुआ है। इस विषय का यह सबसे बड़ा ग्रन्थ है। बड़े साइज की पृष्ठ संख्या है ४४०। (३) श्री हरिश्चन्द्र खन्ना का "रेडियो नाटक" (१९५५)। इन ग्रन्थों में एकांकी और रेडियो नाटकों का शास्त्रीय पक्ष भी है, केवल इतिहास और परिचय ही नहीं।

मैंने भी लगभग पचीस वर्ष पूर्व "नाट्य कला मीमांसा" नामक एक पुस्तिका इसी विषय पर लिखी थी।

उर्दू में

उर्दू भाषा के साहित्य के सम्बन्ध में, जिसके अन्तर्गत नाटक विषय भी आ जाता है, सबसे बृहत् और प्रामाणिक ग्रन्थ डा० रामबाबू सक्सेना का है,

जो इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी अकादमी ने उर्दू, हिन्दी और अंग्रेजी तीनों भाषाओं में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ का नाम है "उर्दू लिटरेचर"। इसके सिवाय उर्दू नाटक पर निम्नलिखित दो ग्रन्थ और हैं—

१. श्री अब्दुस्सलाम खुरशेद कृत "उर्दू ड्रामा"।
२. श्री मसूदहसन रिजवी आदिब कृत "उर्दू ड्रामा और स्टेज"।

ये दोनों ग्रन्थ उर्दू में हैं और उर्दू नाटक के इतिहास तथा समीक्षा से संबंध रखते हैं।

बंगला में

बंगला साहित्य का इतिहास और उसकी आलोचना डा० दिनेशचन्द्र सेन ने अपने "बंग भाषा ओ साहित्य" और श्री सुकुमार सेन ने अपने "बांगलार साहित्येर कथा" नामक ग्रन्थों में की है। इन दोनों ही पुस्तकों में समूचे पुराने और नये बंग भाषा के साहित्य का परिचय और संक्षिप्त आलोचना मिलती है, जिसके अन्तर्गत नाटक भी आ जाते हैं। श्री वृजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय का "बांगला सामयिक साहित्य" और डा० शशिभूषण दास का "बांगला साहित्येर नवयुग" दो ग्रन्थों में बंग भाषा के आधुनिक साहित्य का परिचय है और इन दोनों ग्रन्थों में भी साहित्य के साथ बंगला के नये नाटकों का भी संक्षिप्त परिचय आ जाता है। इसके बाद बंग भाषा के नाटकों पर अनेक पुस्तकें हैं। इनमें निम्न ग्रन्थ प्रमुख हैं—श्री साधनकुमार भट्टाचार्य का पाँच भागों में "नाट्य साहित्येर आलोचना ओ नाटक विचार", श्री द्विजेन्द्र वंद्योपाध्याय का "बांगला नाट्य साहित्येर इतिहास", श्री हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त का "बांगला नाटकेर इतिवृत्त", श्री मन्मथमोहन वसु का "बगला नाटकेर उत्पत्ति ओ क्रमो विकास", श्री अजित कुमार घोष का "नाटकेर कथा" और "बागला नाटकेर इतिहास"—ग्रन्थों में बंग भाषा के नाटकों का परिचय और आलोचना है। परन्तु, नाटक के शास्त्रीय पक्ष के संबध में प्रायः कुछ भी नहीं कहा गया है। श्री साधनकुमार भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थ "नाटक ओ नाटकीयता" में अभिनय पर अधिक प्रकाश डाला है। श्री शचीन सेनगुप्त ने "बांगलार नाटक ओ नाट्यशाला" में नाटकों के साथ रंगमंच का इतिहास दिया है और श्री वृजेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय ने अपनी पुस्तक "बंगीय नाट्यशालार इतिहास" में बंग भाषा के रंगमंच का विस्तृत इतिहास लिखा है। श्री अहीन्द्र चौधरी, जो आजकल के बंगीय रंगमंच एवं सिनेमा दोनों

के सर्वश्रेष्ठ अभिनेता हैं, उन्होने श्री गिरीशचन्द्र घोष को प्रमुख बना "बांगला नाट्य विवर्धन" नामक एक ग्रन्थ में बंग भाषा के नाटकों के विकास की कथा लिखी है, जिसमें गिरीश घोष के साथ अन्य नाटककारों और उनके नाटकों का भी संक्षिप्त परिचय आ गया है। श्री गिरीशचन्द्र घोष और श्री द्विजेन्द्रलाल राय ने भी नाटक, अभिनय और रंगमंच के संबंध में अपने समय के पत्र पत्रिकादि मे अनेक निबध और लेख लिखे थे। मैने स्वयं इनमें से कुछ को देखा है। यह सचमुच खेद की बात है कि बंगला भाषा के सदृश समृद्ध भाषा मे इस प्रकार के ख्यातिनामा नाटककारों के इस साहित्य का संकलन होकर ये अब तक पुस्तकाकार प्रकाशित नही किये गये।

उड़िया में

उडिया साहित्य और नाटक संबंधी निम्नलिखित ग्रन्थ उड़िया भाषा में है—

१. प्रोफेसर के० सी० मिश्र कृत "साहित्य समीक्षा"।
२. डा० एस० एन० साहू कृत "दंड नाट्य"।
३. प्रो० एस० दास कृत "नाटक विचार"।
४. प्रो० जी० एस० रे कृत "उड़िया नाट्य कला"।

इनमें से प्रथम ग्रन्थ मे नाटक विषय भी आ गया है। दूसरा ग्रन्थ दड नाट्य के सबध में है और शेष दो नाटक के सबंध में, जो इन ग्रन्थों के नाम से ही ज्ञात हो जाता है।

निम्नलिखित दो ग्रन्थ अंग्रेजी में हैं—

१. प्रो० जे० बी० महन्ती कृत "उड़िया लिटरेचर"।
२. प्रो० पी० आर० सेन कृत "मॉडर्न उड़िया लिटरेचर"।

इन दो ग्रन्थों में भी प्रसंगवश नाटक विषय आया है।

परंतु उपर्युक्त सारे ग्रन्थ उड़िया भाषा के साहित्य और नाटक के इतिहास एवं समीक्षा से ही संबंध रखते हैं। नाटक का शास्त्रीय विवेचन इन ग्रन्थों में नहीं के बराबर है।

असमिया में

असमिया भाषा के साहित्य पर मुझे एक ग्रन्थ तो असमिया भाषा का मिला और शेष तीन अंग्रेजी भाषा में। इन ग्रन्थों के नाम हैं—(१) "साहित्य अरु समालोचना" (२) "स्टडीज इन दि लिटरेचर आफ आसाम" (Studies in the Literature of Assam) (३) "माडर्न आसामीज लिटरेचर" (Modern Assamese Literature) (४) "आसामीज ड्रामा" (Assamese Drama)।

"साहित्य अरु समालोचना" के लेखक हैं श्री अतुलचन्द्र बरुआ। इस ग्रन्थ में असमिया भाषा के अन्य साहित्यिक अंगों के साथ नाटक का भी संक्षिप्त परिचय और आलोचना है।

दूसरा अंग्रेजी का ग्रन्थ डा० एस० के० भुइयाँ का है। इसमें प्राचीन काल से लेकर आधुनिक समय तक के असमिया भाषा के साहित्य का परिचय है, जिसके अन्तर्गत संक्षेप से नाटक भी आ जाता है। तीसरे ग्रन्थ के रचयिता है डा० बी० के० बरुआ। इसमें असम के आधुनिक साहित्य और नाटक का परिचय एवं आलोचना है। चौथा ग्रन्थ केवल असमिया भाषा के नाटकों पर है। परन्तु, इसमें नाटक के शास्त्रीय पक्ष पर बहुत कम लिखा गया है; नाटकों का परिचय और आलोचना ही अधिकतर है।

मराठी में

मराठी भाषा में डाक्टर विश्वनाथ पाण्डुरंग दांडेकर का "मराठी साहित्या चा इतिहास", प्रोफेसर अ० न० देशपांडे का दो खण्डो में "मराठी वाङ्मय" और श्री बी० स० सर्वटे का "अर्वाचीन मराठी साहित्य" ग्रन्थों मे साहित्य के अन्य अंगों के साथ नाटक पर भी लिखा गया है। परन्तु, इनमें नाट्य साहित्य का परिचय मात्र है, नाटक के शास्त्रीय पक्ष का कोई विवेचन नहीं। नाट्य शास्त्र पर सबसे पुराना ग्रन्थ है "नाट्य शास्त्र संग्रह", जिसका पहला भाग तन्जोर सरस्वती महल पुस्तकमाला में प्रकाशित हुआ है। इसका सपादन किया है डा० टी० चन्द्रशेखरन् ने। यह ग्रन्थ मूल सस्कृत में है। इस प्रकाशन में मूल संस्कृत के श्लोकों का मराठी, तमिल और अंग्रेजी में अनुवाद दिया गया है। यह ग्रन्थ सर्वथा शास्त्रीय है और प्रथम खण्ड में ही छै सौ अड़तालीस पृष्ठों में समाप्त हुआ है। श्री वि० द० साठे का "मराठी नाट्य-रचना (तंत्र आणि विकास)" मराठी नाटक रचना पर एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। जहाँ तक शास्त्रीय पक्ष

का सम्बन्ध है, यह ग्रन्थ शायद इस विषय में मराठी भाषा का सर्वोत्तम ग्रन्थ है; पृष्ठ हैं ४६३। श्री र० कृ० फड़के शिल्पकार का "नाट्य परामर्श" और श्री अवधूत महादेव जोशी का "नाट्य कला प्रवेश" भी दो शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। डा० वि० प० दांडेकर के "मराठी नाट्य सृष्टि" नामक दो ग्रन्थ हैं। एक में मराठी के पौराणिक नाटकों का परिचय और आलोचना है और दूसरे में मराठी के सामाजिक नाटकों का परिचय और आलोचना। श्री श्रीनिवास नारायण वनहट्टी ने "मराठी रंगभूमि चा इतिहास" नामक ग्रन्थ के पहले खण्ड में, जो लगभग पाँच सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है, महाराष्ट्र की रंगभूमि का इतिहास दिया है। श्री मामा साहेब वरेरकर ने भी इसी विषय पर "मराठी रंगभूमि" नामक पुस्तक लिखी है। श्री बसन्त शान्ताराम देसाई के "नाटक आणि नाटककार" में नटों, नाटकों और नाटककारों पर अच्छी सामग्री प्रस्तुत की गयी है। कैप्टन माधवराव कृष्णाजी शिन्दे का एक ग्रन्थ है "नाटक शास्त्र आणि तंत्र"। इस ग्रन्थ में नाट्य कला संबंधी विचार व्यक्त किये गये हैं। इसी विषय पर श्री नामदेव व्हटकर की "नाट्य तंत्र" पुस्तक है, जिसमें मराठी नाट्य शिल्प का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। श्री द०व० मिरजकर ने अपने "अभिनय कला" ग्रन्थ में अभिनय सम्बन्धी चर्चा की है। श्री फाटक बरवे ने अपने "नाट्य विषयक सुशिक्षित चर्चा" में नाटक, रंगमंच और अभिनय तीनों पर ही लिखा है। श्री व० द० धारपुरे का "नाट्य सृष्टि" ग्रन्थ और गो० ब० बापट का "नाट्य विषय व्यापक विचार" में भी इन्हीं तीनों विषयों का विवेचन है। श्री श० न० सहस्रबुद्धे ने अपने ग्रन्थ "नाटक लेखन रहस्य" में और श्री श० ब० मजूमदार ने अपनी पुस्तक "नाट्य कसें पाहावे" में सफल नाटक किस प्रकार लिखा जाय और किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, इसका वर्णन किया है। इस विषय का मराठी का जो अन्तिम ग्रन्थ मुझे देखने को मिला, वह सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ है। यह है श्री नंदु खोटे का "नाट्य दर्शन" अर्थात् "नाटक कसे बसवावें"। इस ग्रन्थ में रंगमंच पर नाटक सफलतापूर्वक किस प्रकार प्रयुक्त किया जाय, इस सम्बन्ध में अच्छे सुझाव हैं। सब मिलकर मराठी भाषा का नाटक सम्बन्धी यह साहित्य मुझे काफी समृद्ध जान पड़ा।

गुजराती में

गुजराती में नाट्य शास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ मुझे श्री नाथूराम सुन्दरजी शुक्ल का मिला, जो सन् १९११ में प्रकाशित हुआ था। इस चार सौ छियासठ पृष्ठ के ग्रन्थ का नाम "नाट्य शास्त्र" है और यह भरत मुनि के "नाट्य

शास्त्र" पर आधारित है। फिर भी इसमें श्री शुक्ल ने अपने कुछ सुझाव भी दिये हैं। महाराजा सायाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदा की भारतीय संगीत नृत्य नाट्य महाविद्यालय ग्रन्थ श्रेणी के ग्रन्थ एक और दो में पहला ग्रन्थ श्री नद-कुमार पाठक का है। इसका नाम है "एकांकी स्वरूप अने साहित्य"। इस ग्रन्थ में एकांकी और रेडिओ नाटक का संक्षिप्त शास्त्रीय विवेचन है। अंत में "भगनी भाषा ओ माँ" अध्याय में अन्य भारतीय भाषाओं के एकांकी नाटकों का भी अत्यंत सक्षिप्त परिचय दिया गया है। ग्रन्थ दो के लेखक हैं श्री जसवन्त ठाकर। इस ग्रन्थ का नाम है "नाट्य शिक्षणना मूलतत्त्वो"। यह भी एक शास्त्रीय ग्रन्थ है, जिसमें प्रधानतया रंगमंच और अभिनय का प्रतिपादन किया गया है। श्री राम-प्रसाद प्रे बख्शी ने "नाट्य रस" नामक पुस्तक में रसशास्त्र का और रस निष्पत्ति का अच्छा विवेचन किया है। इसके बाद गुजराती में मैंने इस विषय पर तीन पुस्तिकाएँ देखीं—एक श्री चन्द्रवदन मेहता की "नाटक भजवतां", दूसरी श्री चुन्नी लाल मडिया की "नाटक भजवतां पहेलां" और तीसरी श्री रमेश कोठारी की "नाटक करीये"। पहली दो पुस्तिकाओं में नाटक किस प्रकार प्रस्तुत किया जाय, इसका विवेचन है और तीसरी पुस्तिका में बालकों के नाटक किस प्रकार प्रस्तुत किये जायें, इसका वर्णन है। अंतिम पुस्तिका में कुछ चित्र भी दिये गये हैं।

दक्षिण की भाषाओं में जब मैंने इस संबंध में खोज की तब तमिल अकादमी से प्रकाशित होनेवाले तमिल विश्वकोष के प्रधान संपादक डा० एम० पी० पेलियास्वामी थूरन ने मुझे लिखा—

"Exhaustive and authoritative treatise on drama has yet to be written in all these languages." अर्थात्—"इन समस्त भाषाओं के नाटकों पर विस्तृत और प्रामाणिक निबंधात्मक सामग्री अभी लिखी जाना है"।

परन्तु, इन भाषाओं का कुछ साहित्य मुझे प्राप्त हो सका।

तमिल में

तमिल भाषा की नाट्य कला, नाट्य साहित्य और नाट्य शास्त्र बहुत प्राचीन है। तमिल के इस प्राचीन साहित्य का कुछ विवेचन पहले किया जा

चुका है। आधुनिक काल में जो साहित्य निकला है, उसमें प्रधानता है "भरत नाट्यम्" की पुस्तकों की। भरत नाट्य नृत्य तो है ही, परंतु नृत्य के साथ उसमें नाट्य और नाट्य मुद्राओं का भी प्रधान स्थान है। इतने पर भी उसे नाटक तो नहीं कहा जा सकता। श्री स्वामी विपुलानन्द के "मादंग चूड़ामणि" में तमिल भाषा के वर्तमान नाट्य साहित्य का परिचय है। डा० सूर्य नारायण शास्त्रीयर ने "नाडगवियल" में तमिल के नाट्य शास्त्र पक्ष पर प्रकाश डाला है।

मलयालम में

मलयालम में भी तमिल के भरत नाट्य के सदृश "कथकलि" नृत्य पर काफी साहित्य प्रकाशित हुआ है। परन्तु, भरत नाट्यम् के सदृश ही "कथकलि" नृत्य को भी नाटक नहीं कहा जा सकता। श्री पी० डी० हरि शर्मा की "नाटक प्रवेशिका" पुस्तक में नाटकों के कुछ आरंभिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन है। श्री सी० जे० टामस की "ओयरून्न यवनिका" पुस्तक, जिसका हिन्दी अर्थ होता है "ऊपर उठनेवाली यवनिका" में श्री टामस ने काफी रोचक ढग से नाटकों का वर्णन किया है। श्री सी० जे० टामस के नाम से उनके विदेशी होने का भास होता है, परन्तु ये केरल निवासी हैं। केरल में ईसा की पहली शताब्दी में ही ईसाई धर्म मानने वाले हो गये थे। श्री परमेश्वरन पिल्लै के "नवीन नाटक दर्शनम्" में मलयालम के नये नाटकों का परिचय और आलोचना है। श्री राम कुरुप की पुस्तक 'चक्किचन कर्म' ऐसे समय लिखी गयी थी जब मलयालम भाषा की नाट्य कला एक ही रट में पड़कर निष्प्राण-सी हो गयी थी। श्री राम कुरुप ने इन नाटकों का ऐसा मजाक उड़ाया और उनकी इस पुस्तक का उस समय कुछ ऐसा असर पड़ा कि रट के गर्त्त में गिरा हुआ मलयालम का नाट्य साहित्य फिर से ऊपर उठा।

कन्नड़ में

कन्नड़ में हाल ही में कन्नड़ भाषा के साहित्य और नाटक पर निम्नलिखित दो ग्रन्थ निकले हैं—

१. श्री शिवराम करन्त कृत "यक्षगण बै लाटा"।
२. डा० एच० के० रंगनाथ कृत "दि कर्णाटक थियेटर"।

पहला ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में है जो सन् १९५७ में प्रकाशित हुआ और

दूसरा अंग्रेजी भाषा में है। दोनों ग्रन्थों में अधिक विवेचन रंगमंच से संबंध रखता है।

तेलगू में

तेलगू भाषा का नाट्य साहित्य नवीन होने पर भी नाटक के शास्त्रीय पक्ष और वहाँ के नाटकों के परिचय तथा आलोचना पर आधुनिक समय में जितनी पुस्तकें तेलगू भाषा में निकली हैं उतनी दक्षिण की अन्य किसी भाषा में नहीं। तेलगू भाषा का श्री चित्रकवि पेद्दण्ण का "लक्षण सार संग्रहमु" ग्रन्थ सन् १५५० ईस्वी में लिखा गया था। काकीनाडा की तेलगू अकादमी ने इसे सन् १९३७ में प्रकाशित किया है। इसका संपादन किया है श्री एन० वैंकटराव ने। इसके तीसरे अध्याय में नाटक का विवेचन है। श्री जे० माधवराम शर्मा का "नाट्य वेदमु" नाटक पर एक शास्त्रीय ग्रन्थ है। श्री पुरानमसूर्य शास्त्री के दो ग्रन्थ हैं—एक "नाट्याम्बुजमु" और दूसरा "नाट्य फलमु"। इन दोनों ग्रन्थों के हिन्दी नाम हुए—"नाट्य अम्बुज" और "नाटक फल"। दोनों ग्रन्थों में श्री शास्त्री ने नाटक, रस की निष्पत्ति कर मन को किस प्रकार प्रफुल्लित करता है तथा उसका क्या फल निकलता है, इसका विवेचन किया है। श्री गोल्लपुडी श्रीराम शास्त्री के "आन्ध्र नाटक रङ्गमु" में आन्ध्र के रंगमंच का विवेचन है। श्री टी० सीतारामराव के "दक्षिण देशमुल नाट्य मुलु" ग्रन्थ में दक्षिण के नाटकों के शास्त्रीय पक्ष का वर्णन है। तेलगू के "मुलु" शब्द का अर्थ शास्त्र होता है। यद्यपि इस ग्रन्थ में दक्षिण के नाटक शास्त्र की मोटी रूपरेखा है, परन्तु विस्तार तेलगू भाषा के ही नाट्य शास्त्र का है। नटराज रामकृष्ण के दो ग्रन्थ हैं, "नृत्य रेखा" और "नर्त्तनबाला"। इन दोनों ग्रन्थों में नृत्य के साथ नाट्य का विवेचन है। श्री श्रीनिवास चक्रवर्ती के भी दो ग्रन्थ हैं—"अभिनयम्" और "नटन्"। इन दोनों ग्रन्थों मे अभिनय का वर्णन है।

भारत की इन आधुनिक भाषाओं के इस साहित्य का मैं परिचय मात्र करा पाया हूँ। इस परिचय में नाटक के शास्त्रीय पक्ष, नाटकों का परिचय और आलोचना के संबंध में यदि संक्षेप से भी कुछ कहने अथवा लिखने का प्रयत्न किया जाय तो वह एक भाषण का विषय न रहकर एक ग्रन्थ का विषय हो जाता है।

एकांकी नाटक का शास्त्रीय विवेचन

इधर भारत और विदेशों में भी एकांकी नाटक काफी लिखे गये तथा लिखे जा रहे हैं। मेरे सात एकांकियों का एक संग्रह सन् १६४० में "सप्तरश्मि" के नाम से निकला था। उसके प्राक्कथन में मैंने शास्त्रीय ढंग से एकांकी नाटक की टैकनीक के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की थी और इसके सम्बन्ध में अपना कुछ मत भी व्यक्त किया था। बीस वर्ष का लम्बा समय बीत जाने पर भी मेरे उन मतों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मैंने एकांकी के संबंध में अन्यों के मतों का अध्ययन करने का भी प्रयत्न किया है। अतः एकांकियों के विषय में भी मैं यहाँ कुछ कहना उपयुक्त समझता हूँ।

भारत में जहाँ सबसे पहले नाटक का विकास हुआ, उस भारतीय साहित्य और रंगमंच के लिए एकांकी नाटक कोई नयी चीज नहीं है। संस्कृत में साहित्यिज्ञों ने रूपक के दो भेद किये थे—एक रूपक और दूसरा उपरूपक। रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये गये थे। रूपक के दस भेदों में निम्न तीन भेद एकांकी नाटक के थे—

(१) व्यायोग, (२) अंक, (३) वीथी।

व्यायोग में वीर रस की प्रधानता रहती है। उसमें स्त्री पात्र या तो बिलकुल नहीं रहते या बहुत कम। इस नाटक का एक अंक होता है। एक विचार (आइडिया) पर सारा कार्य चलता है और नाटक की सारी घटना का समय भी एक ही दिन होता है।

अंक में करुण रस प्रधान होता है। इसमें प्रायः स्त्रियों के शोक का वर्णन रहता है। इसमें भी एक ही अंक रहता है। एक ही विचार पर नाटक की सृष्टि होती है और घटना का समय भी एक ही दिन रहता है।

वीथी शृंगार रस प्रधान रहता है। यह भी एकांकी होता है और एक ही विचार का विकास होकर नाटक की सारी घटनाएँ एक ही दिन में समाप्त हो जाती हैं।

उपरूपकों के अठारह भेदों में से निम्न दस भेद एकांकी नाटक के हैं—

(१) गोष्ठी, (२) नाट्यरासक, (३) उल्लाप्य, (४) काव्य, (५) रासक, (६) प्रेंखण, (७) श्रीगादित, (८) विलासिका या विनायका, (६)हल्लीश और (१०) भाणिका ।

प्रचीन संस्कृत साहित्य में एकांकी यथेष्ठ संख्या में मिलते हैं । कुछ प्रसिद्ध नाम यहाँ दिये जाते हैं —"सौगन्धि का हरण" (व्यायोग) "सर्मिष्ठा ययातिः" (अंक) "बैवत मदनिका" (गोष्ठी), "विलासवती" (नाट्य रासक), "देवी महादेव" (उल्लाप्य), "मेनिका हित" (रासक) "बालिवधः" (प्रेंखण), "क्रीड़ा रसातल" (श्रीगादित), "विन्दुमती" (विलासिका), "केलिरैवतक" (हल्लीश), "कामदत्ता" (भाणिका) ।

पश्चिम में नाटक का सबसे पहले यूनान में विकास हुआ । यूनान के पहले प्रधान नाटककार एसचीलस के नाटकों को हम देखें तो जान पड़ता है कि उसके सभी नाटक एकांकी हैं । एसचीलस के बाद सोफोक्लीज के नाटक भी एकांकी ही कहे जा सकते हैं । बात यह है कि यूनान के नाटकों की रचना "संकलनत्रय" या "समक" (यूनिटीज) की चहारदीवारी के अन्दर होती थी अर्थात् वहाँ के साहित्यिज्ञों ने यह नियम बनाया था कि आरम्भ से अन्त तक सारे नाटक की रचना इस प्रकार होनी चाहिए, जिससे यह जान पड़े कि वह नाटक किसी एक ही स्थान पर हो रहा है, उसकी अवधि भी एक ही दिन की घटना तक परिमित है और वह एक ही कृत्य के सम्बन्ध में है । फिर वहाँ के नाटकों में भारतीय नाटकों के सदृश अक तथा विषकंभक, प्रवेशक आदि विभाजन भी न थे । अतः अंकों में विभाजित न किये हुए तथा "सकलनत्रय" से बँधे हुए नाटक को, चाहे वह बड़ा हो या छोटा, एकांकी नाटक ही कहा जा सकता है ।

अर्वाचीन एकांकी नाटकों का विकास पश्चिम में आरम्भ हुआ । पहले पहल इन्हें "कर्टन राइजर" कहते थे । पूरे नाटक के आरम्भ में एक छोटा-सा एकांकी नाटक खेला जाता था । प्रायः यह हास्य रस का होता था । इसका मिलान हमारे यहाँ पारसी कम्पनियाँ अपने पूरे नाटक के अन्त में जो "नकल" नाम से हास्यरस के छोटे-छोटे नाटक खेलती थीं, उनसे किया जा सकता है । पश्चिम में एकांकी नाटक का सच्चा विकास प्रथम योरपीय महायुद्ध के बाद सन् १९१८ से हुआ । ग्रेट ब्रिटेन में इस विकास का सच्चा आरम्भ सन् १९२४

में मि० जे० एस० मैरियट ने किया। उसने अव्यवसायी नाट्य जगत के विकास के लिये जो कुछ किया वह वहाँ के आधुनिक एकांकी नाटकों के विकास और प्रचार की नींव थी। फिर तो धीरे-धीरे वहाँ एकांकी नाटकों की रचना और प्रचार की बाढ़-सी आ गयी। द्वितीय महायुद्ध के कुछ समय पूर्व मैंने पढ़ा था कि ब्रिटिश ड्रामा लीग ने नाटकों की एक होड़ (कांपिटीशन) करायी थी। इस एक होड़ में वहाँ की ६०० मंडलियों ने भाग लिया था और इनमें से अधिकांश ने एकांकी नाटक खेले थे। पश्चिम में एकांकी नाटकों पर छोटे-छोटे सिनेमा-फिल्म भी बनाये जाने लगे हैं, जो पूरे फिल्म के पहले दिखाये जाते हैं।

वहाँ के एकांकी नाटकों के तीन भेद किये गये हैं—"वन ऐक्ट प्ले", "स्कैच", "रेडियो ड्रामा"। तीनों में बहुत थोड़ा अन्तर है और तीनों की लेखन शैली (टैकनीक) प्रायः एक ही सी है।

पराधीनता के कारण हम तो हर बात में पश्चिम के पीछे चलते थे। पश्चिम का अनुकरण कर हमारे देश में भी एकांकी नाटकों की रचना हुई। सभी भारतीय भाषाओं में एकांकी नाटक लिखे जाने लगे।

इस समय सभी जगह एकांकी नाटकों की इस भरमार के दो प्रधान कारण हैं – (१) जनता को अन्य कामों के कारण मनोरंजन के लिए बहुत कम अवकाश है। इसीसे अमेरिका में एकांकी नाटक बहुत प्रिय हैं। (२) रेडियो का प्रचार बहुत बढ़ गया है और बढ़ रहा है। रेडियो के लिए एकांकी नाटक बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

उपन्यास और कहानी की लेखन पद्धति (टैकनीक) में जो अन्तर है, वही पूरे नाटक और एकांकी की लेखन पद्धति में है।

पूरे नाटक के लिए "संकलनत्रय" जो नाट्यकला की विकास की दृष्टि से बड़ा भारी अवरोध है, वही "संकलनत्रय" कुछ फेरफार के साथ एकांकी नाटक के लिए मैं जरूरी मानता हूँ। "संकलनत्रय" में "संकलनद्वय" अर्थात् नाटक का एक हीं समय की घटना तक परिमित रहना तथा एक ही कृत्य के सम्बन्ध में होना तो एकांकी नाटक के लिए मेरे मतानुसार अनिवार्य है। जो यह समझते हैं कि पूरे नाटक और एकांकी नाटक का भेद केवल उसकी

बड़ाई छुटाई है, मेरी दृष्टि में वे भूल करते हैं। एकांकी नाटक छोटे ही हों, यह जरूरी नहीं है, वे बड़े भी हो सकते हैं। बड़े एकांकी का चाहे थोड़े समय के आयोजनों में उपयोग न हो सके, किन्तु बड़ा होने पर भी वह एकांकी हो सकता है। एकांकी नाटक में एक से अधिक दृश्य भी हो सकते हैं, पर यह नहीं हो सकता कि एक दृश्य आज की घटना का हो, दूसरा पन्द्रह दिनों के बाद की घटना का, तीसरा कुछ महीनों के पश्चात् का और चौथा वर्षों के अनन्तर। यदि किसी एकांकी में एक से अधिक दृश्य होते हैं तो वे उसी समय की लगातार होनेवाली घटनाओं के सम्बन्ध में हो सकते हैं। "स्थल संकलन" जरूरी नहीं है, पर "काल सकलन" होना ही चाहिए। संस्कृत नाट्य शास्त्रियों ने भी एकांकी के लिए एक दिन की कथा को आवश्यक माना है। किसी-किसी एकांकी नाटक के लिए भी "काल सकलन" अवरोध हो सकता है। ऐसी अवस्था में मैंने एक नयी योजना रखी है। वह है "उपक्रम" या "उपसंहार"। "उपक्रम" और "उपसहार" का उपयोग सिर्फ "काल सकलन" के अवरोध से बचने के लिए ही नहीं है। कभी-कभी "काल संकलन" रहते हुए भी इनका उपयोग हो सकता है। मेरे मत से इस प्रकार के उपयोग से भी नाटक का सौन्दर्य बढ़ जाता है, पर इस प्रकार का उपयोग अनिवार्य नहीं। "काल संकलन" को तोड़कर यदि अधिक दृश्य रखना आवश्यक हो, तो मेरा मत है कि "उपक्रम" और "उपसंहार" अनिवार्य है। "उपक्रम" और "उपसंहार" का उपयोग नाटक के आरम्भ और अन्त में ही हो सकता है; अतः बीच के दृश्यों में तो मेरे मतानुसार एकांकी में "काल सकलन" रहना ही चाहिए। मैं जानता हूँ कि यह विषय विवादग्रस्त है, परन्तु बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद मैंने इसे विद्वानों के सम्मुख रखने का साहस किया है। "काल संकलन" को एकांकी के लिए अनिवार्य मानने के कारण तथा वह एकांकी कला के विकास के लिए अवरोध भी न हो; इसलिए मैं इस उपाय को विद्वानों के सम्मुख रख रहा हूँ।

इस प्रकार के "संकलनद्वय" की चहारदीवारी से घिरे हुए एकांकी नाटक में कुछ अन्य बातों पर ध्यान रखने की आवश्यकता है—

एक ही विचार (आइडिया) पर एकांकी नाटक की रचना हो सकती है। विचार के विकास के लिए जो संघर्ष अनिवार्य है, उस संघर्ष के पूरे नाटक में कई पहलू दिखाये जा सकते हैं, पर एकांकी में सिर्फ एक पहलू। इस विचार और संघर्ष की सम्बद्धता और मनोरंजकता के लिए जिस कथा की सृष्टि

होती है, उस कथा के भी पूरे नाटक में अनेक पहलू प्रदर्शित किये जा सकते हैं, यहाँ तक कि उपकथाओं के द्वारा जिन्हें नाट्य शास्त्र में "पताका" और "प्रकरी" कहते हैं, मुख्य कथा को सहायता दी जा सकती है, परन्तु एकांकी में कथा के एक ही पहलू को लिया जा सकता है, उपकथाओं "पताका" और "प्रकरी" का एकांकी में उपयोग नहीं किया जा सकता। कथा बिना पात्रों के नहीं हो सकती। अतः पात्रों का प्रादुर्भाव और उनका चरित्र-चित्रण होता है। पूरे नाटक में भी जितने कम चरित्र होंगे, उतना ही स्पष्ट और विशद् चरित्र-चित्रण होगा। हाँ, पूरे नाटक में कुछ गौण पात्र मुख्य पात्रों के चरित्र-चित्रण में सहायक अवश्य हो सकते हैं। एकांकी में तो मुख्य और गौण दोनों ही पात्रों की संख्या बहुत ही परिमित रहनी चाहिए। संस्कृत के नाट्य शास्त्री भी यह मानते हैं। चूंकि नाटक की कथा लेखक के द्वारा नहीं कही जा सकती, इसलिए पात्रों की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं। कथोपकथन को जितना महत्त्व पूरे नाटक में है, उतना ही एकांकी में भी।

जिस एकांकी में जितना बड़ा विचार होगा, उस विचार के विकास के लिए जितना स्पष्ट और तीव्र संघर्ष होगा, इस विचार और संघर्ष के लिए जितनी स्पष्ट और मनोरंजक कथा होगी, जितने कम चरित्र और उन चरित्रों का जितना स्पष्ट और विशद् चरित्र-चित्रण होगा तथा जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही सफल होगा।

एकांकी की मुख्य विशेषताएँ हैं—(१) सक्षिप्तता, (२) एक मूल केन्द्रीय घटना, (३) वस्तुस्थिति की एकता, (४) अर्थबोध देने की क्षमता और (५) समय की एक निश्चित सीमा।

विभिन्न प्रकार की स्थितियों में संघर्ष पाकर एकांकी एक निश्चित केन्द्र बिन्दु पर सहज रूप में पहुँचने में समर्थ है। एकांकी के कथाविकास के निमित्त सात गतियाँ हैं—(१)प्रारम्भ (opening), (२) प्रसार (exposition), (३) संघर्ष (conflict), (४) संग्रथन (complication), (५) उद्घाटन या विस्मय (surprise), (६) विकास (development), और (७) चरम बिन्दु (climax)।

"संकलनत्रय" के अतिरिक्त ये सात गतियाँ क्रमशः सम्पूर्ण एकांकी में एक सीमा-विशेष में फैलकर एक लक्ष्य-बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती हैं। यह

एकांकी की निजी पूर्णता है, जिसमें अतिशय फैलाव नहीं है और न बिखराव है।

एकांकी में कलात्मक संयम एक उच्चकोटि रूप में मिलता है। एकांकी में विषय, पात्र, चरित्र, वातावरण सभी अपने संतुलन रूप में व्यवस्थित रहते हैं। पर्सीवाल वाइल्ड का एकांकी के सम्बन्ध में कथन है—

"Unity is its inspiration, unity is its aim, unity is its soul"

अर्थात्—"एकता इसकी प्रेरणा है, एकता ही इसका लक्ष्य है और एकता ही इसकी आत्मा है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एकांकी एकात्म्यसत्ता-सम्पन्न है।

मेरा निजी मत है कि एकांकी का जो स्वरूप-निर्धारण हुआ है, उसमें कुछ विशेष ध्यान भी दिया जाना चाहिए। एकांकी की एक सम्पुटता तो सर्वथा उचित है, लेकिन उसे इतनी सीमाओं में भी आबद्ध न किया जाना चाहिए कि वह कथा-पक्ष की एकता स्थापन में ही अति संकुचित हो जाय। ऐसे अनेक एकांकीकार हैं जिन्होंने एकांकी के नये शिल्प में कथा को मात्र ढालने के लिए ही खानापूरी की है। मेरा विचार है कि समय परिधि पर या संक्षिप्तता पर ध्यान दिया जाय तो संवेदनाओं के उद्घाटन और भावना प्रधान व्यापार के तीव्र आवेग में कमी न आने पावेगी।

रेडियो नाटक

स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश में आकाशवाणी के अनेक केन्द्रों की स्थापना हुई। आकाशवाणी के माध्यम से भारतीय जनता को सांस्कृतिक चेतनाओं से सम्पन्न करना भारत सरकार का अभीष्ट था। इस प्रकार के कार्यक्रमों में निम्न आयोजन प्रमुख रहते हैं—

१. समाचार प्रसारण एवं नवीन सूचनाओं का प्रसारण।
२. संवाद-प्रधान साहित्य का प्रसारण।
३. संगीत (वाद्य, गायन तथा स्वतन्त्र कविता-पाठ और सुगम संगीत) प्रसारण।

४. ध्वनियों के माध्यम से प्रस्तुत विभिन्न प्रकार के साहित्यिक (मनोरंजन-प्रधान) कार्यक्रमों का प्रसारण।

प्रारम्भ में उपर्युक्त रूपों में ही कार्यक्रम प्रस्तुत किये जाते थे, लेकिन क्रमशः विकास पाने पर नाटक के क्षेत्र में एक नयी विद्या को जन्म दिया गया। इसे "रेडियो नाटक" के नाम से सैद्धान्तिक मान्यता दी गयी है। इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं—

(१) नाटक अपने पूर्ण रूप में श्रव्य एवं दृश्य दोनों होते हैं, किन्तु यह मात्र श्रव्य के अन्तर्गत आता है।

(२) रंगमंच की व्यवस्था के अभाव में स्थानीय वातावरण (local colour) का अभिबोध मात्र ध्वनियों से कराया जाता है। उदाहरण के लिए घोड़े की टाप की टप-टप की ध्वनि, घड़ी की टिक-टिक या एलार्म की ध्वनि।

(३) ध्वनियों के माध्यम से वातावरण का परिचय प्राप्त होता है। वाद्य-ध्वनियों से उत्पन्न ध्वनियों के प्रसारण के माध्यम से श्रोताओं में रस-बोध की क्षमता उत्पन्न की जाती है।

(४) संवाद, भाषा के उतार-चढ़ाव, भाषा सम्बन्धी नाट्य रूपों की अभि-सर्जना से यह संजीवित होता है।

(५) समस्त व्यापारों में ध्वनियों की प्रधानता।

(६) उद्घोषक के माध्यम से बीच-बीच या प्रारम्भ में नाटक का परिचय प्रस्तुत कराया जाता है।

(७) इस प्रकार विशेष नाटक में दृश्य का स्थान श्रव्य लेकर रस-निष्पत्ति करता है। अप्रत्यक्ष कार्य-व्यापार मात्र ध्वनियों के माध्यम से नाटकीय-रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

(८) अभिकथनों या संवादों के माध्यम से अभिधा, व्यंजना, लक्षणा आदि ध्वनित होते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि रेडियो नाटक के माध्यम से रुचि विशेष को कानों द्वारा ग्रहण किया जाता है। नाटक में हमारे नेत्र और कर्ण दोनों एक बिन्दु पर केन्द्रित होकर ग्रहण या आत्मबोध करने की स्थिति प्राप्त करते हैं। ध्वनियों के माध्यम से रस-ग्रहण करने के लिए केन्द्रीभूत होना पड़ता है। प्रत्यक्ष देखने और सुनने में जो मूल अन्तर है वही अन्तर रंगमंचीय नाटक

में और ध्वनि-प्रधान (रेडियो) नाटक में है।

विषय की दृष्टि से जब रेडियो पर प्रस्तुत नाटक को सुनते हैं तो उनमें निम्न विशेष बातों को पाते हैं—

(१) मनोरंजन की प्रधानता।
(२) हलका-फुलका साहित्य।
(३) पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों का रूपान्तर।
(४) संगीत की प्रधानता।
(५) अविद्रोही मूलक तत्त्वों की प्रधानता। (विद्रोह मूलक तत्त्वों का अभाव)।

कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में मैं अपने नाट्य कला वाले भाषण में कुछ कह चुका हूँ। अतः मेरे मतानुसार यह स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य रचनात्मक होता है और अपने उद्देश्यपूर्ति के निमित्त साहित्य की नयी विचारधाराओं का स्वागत करते हुए रूढ़िग्रस्त आचार-विचारों को सन्दर्भ में रखकर विद्रोही वृत्तियों को अभिव्यक्त करता है। युग-प्रवर्त्तन विशेष रूप से साहित्य में करने वाला रचनाकार विद्रोही होता है। यदि वह सच्चा विचारक है तो हर प्राचीनता सर्वथा त्याज्य नहीं मानता, पर प्राचीनता में जो ग्राह्य है उसे ग्रहण कर आधुनिक युग विशेष को अपने विद्रोह मूलक विचारों द्वारा पुष्ट बनाता है। भारतीय सविधान धर्म-निरपेक्ष और व्यक्ति स्वातन्त्र्य को इतना महत्त्व देता है, क्या वह यही ऐसी विद्रोही रचनाओं के सम्बन्ध में कर सकेगा ? जबकि आकाशवाणी भारत सरकार का एक अंग है, उसे तो सरकारी नीतियों की सीमाओं में रहना ही पड़ेगा। इससे यह स्पष्ट है कि आकाशवाणी पर प्रस्तुत रेडियो नाटक विद्रोही रचना को आत्मसात नहीं कर सकते और साहित्य के स्वभाव के साथ मेल नहीं खाते।

आकाशवाणी पर निम्नप्रकार के नाटकीय कार्यक्रम प्रस्तुत होते हैं—

(१) रेडियो नाटक (एकांकी तथा सम्पूर्ण नाटक)।
(२) गीति नाट्य।
(३) भाव-नाट्य।

रेडियो नाटक के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके अन्तर्गत एकांकी, सम्पूर्ण नाटक, प्रहसन, रूपक आदि प्रस्तुत होते हैं।

गीति-नाट्य में कथात्मक काव्य को विभिन्न स्वरों द्वारा गेय रूप में प्रस्तुत किया जाता है और संगीत भी पार्श्व में ध्वनित होता है। रसों के बोध के लिए ध्वनियों के उतार-चढ़ाव को आधार रूप में लिया जाता है।

भाव-नाट्य में गद्य या पद्य दोनों में भावात्मक शब्दों और भावात्मक विषयों के आधार पर काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी जाती है। इसमें मानवीय संवेदनाओं की विशेष रूप से प्रधानता रहती है। वाद्यसंगीत साधारणतया पार्श्व से ध्वनित होता है।

अभी आकाशवाणी पर प्रस्तुत नाट्य-शिल्प पर विचार किया गया। विषय की दृष्टि से भी विचार किया गया कि रेडियो नाटक-साहित्य का मेल साहित्य में स्पन्दित मूल प्रवृत्ति से नहीं हो पाता। इसके लिए सुझाव हैं—

(१) मात्र मनोरंजन ही अभीष्ट नहीं होना चाहिए। मनोरंजन साधन-रूप में ही ठीक होगा, न कि साध्य रूप में।

(२) निर्जीव साहित्य को महत्त्व देना उचित नहीं।

जो नाटक भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में आकाशवाणी पर प्रसारित होने के उद्देश्य से लिखे जा रहे हैं, उनमें से अधिकांश अत्यन्त साधारण कोटि के हैं।

फिल्मी नाटक

भारतीय नाटकों और रंगमंच को सिनेमा से जो क्षति पहुँची है वह सर्वविदित है। फिल्मी नाटकों की कुछ विशेषताएँ भी हैं—

(१) औपन्यासिक कथा का नाटकीकरण।
(२) श्रव्य, दृश्य दोनों विशेषताओं से सम्पन्न।
(३) श्रव्य के अन्तर्गत संवाद और संगीत-ध्वनियों से रस की निष्पत्ति में सम्पन्न।

(४) दृश्य के लिए फोटोग्राफी की कला से सम्पन्न और वैज्ञानिक आविष्कार की महान् देन के फलस्वरूप एक प्रकार की मानवीय उपलब्धि ।
(५) सस्ते बाजारू संगीतों पर ढाले गये गीतों से सम्पन्न ।
(६) अस्वाभाविक घटनाओं को स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करने में क्षमता-सम्पन्न, जब कि रंगमंच पर वह कल्पित अथवा आरोपित समझा जा सकता है ।
(७) अभिनय की सुगमता ।

दृश्य और श्रव्य, दोनों से समन्वित होकर फिल्मी नाटक जीवन का आवश्यक अंग बन गया है ।

विषय की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि फिल्मी नाटकों ने जीवन के अरचनात्मक तत्त्वों को बहुत उभारा है, जिससे सामाजिक पतन भी हुआ है । ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों को असत्य रूप में प्रस्तुत करना फिल्मी नाटकों की मूल प्रवृत्ति-सी हो गयी है । कथा के संदर्भ में कामुक, अश्लील, अस्वाभाविक अभिनय और वातावरण को भी प्रश्रय मिला है ।

रेडियो नाटक, फिल्मी नाटक, नाटक-शिल्प के रूप में मान्य हो गये हैं। ये मूल रूप में वैज्ञानिक सभ्यता की देन हैं और साहित्य नाट्य-रूप में इनके माध्यम से प्रस्तुत होता है ।

टेलीविजन

अब हमारे देश में आगामी कुछ वर्षों में ही, टेलीविजन का विकास एवं प्रसार होगा । इसका शिल्प रंगमंच से मिलता-जुलता है, इसमें सन्देह नहीं, क्योंकि यह दृश्य और श्रव्य से समन्वित होगा । नाटक जब प्रस्तुत होंगे तो खेले भी अवश्य जायेंगे और जब खेले जायेंगे तो उक्त केन्द्रों पर रंगमंच की व्यवस्था भी होगी । लेकिन इनके विषय में शंकाएँ हैं—

(१) फिल्मी नाटक का आधार फोटोग्रैफिक यन्त्रों पर है और उसमें कला की हत्या संभव भी होती है, उसी प्रकार फोटोग्रैफिक वस्तुओं को भी टेलीविजन पर प्रस्तुत किया जा सकेगा और श्रव्य के लिए रिकार्ड करके

प्रस्तुत किया जा सकेगा। कहने का आशय है कि फिल्मी नाटक पहले तैयार करके टेलीविजन पर प्रस्तुत हो सकता है।

(२) टेलीविजन के माध्यम से उसके शिल्प में आकाशवाणी की तरह रिकार्डस और फिल्मों की तरह दृश्य प्रस्तुत करके उसकी कलात्मक-क्षमताओं में बाधा खड़ी होगी। टेलीविजन का प्रचार बढ़ने पर उसको साधन सम्पन्न बनाने के लिए कलात्मक रुचियों का ध्यान रखना आवश्यक होगा।

रंगमंच का महत्त्व

जो कुछ हो, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि रेडियो, फिल्मी नाटक या टेलीविजन कोई भी रंगमंच का स्थान नहीं ले सकते। रेडियो नाटक में नाटक का केवल श्रव्य रूप रहता है, फिल्मी नाटक में चित्र रूप और टेलीविजन में भी वही चित्र रूप रहेगा, जो जीवित पात्रों का स्थान नहीं ले सकता। पश्चिम में जहाँ ये तीनों कलाएँ परिपूर्ण स्थिति को पहुँची हुई हैं, वहाँ फिर से रंगमंच का उत्कर्ष हो रहा है और यहाँ भी होकर रहेगा।

रंगमंच

(रूपरेखा)

१. प्राचीन भारत के संस्कृत भाषा के रंगमंच

२. आधुनिक भारत के व्यवसायी और अव्यवसायी रंगमंच

३. पारसी नाटक कम्पनियों की रंगशालाएँ

४. पृथ्वीराज का रंगमंच

५. हिंदी भाषाभाषी क्षेत्रों में अव्यवसायी रंगमंच

६. आधुनिक अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच :—

क—बंगला रंगमंच
ख—असमिया रंगमंच
ग—उड़िया रंगमंच
घ—मराठी रंगमंच
ङ—गुजराती रंगमंच
च—पंजाबी रंगमंच
छ—काश्मीरी रंगमंच
ज—तमिल रंगमंच
झ—मलयालम रंगमंच
य—कन्नड़ रंगमंच
र—तेलगू रंगमंच

७. भारत में रंगमंच की आवश्यकता और उसकी समस्याएँ

८. देहाती रंगमंच

९. बालकों का रंगमंच

१०. दृश्य, पात्र और पात्रों की वेशभूषा

११. अभिनय

रंगमंच

"नाट्य साहित्य" भाषण में नाटकों की उत्पत्ति और नाट्य साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए यह संकेत दिया जा चुका है कि रामायण और महाभारत काल में भी नाटकों की रचना और प्रदर्शन होता रहा था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी न किसी प्रकार का रंगमंच भी उस युग में विद्यमान रहा होगा। किन्तु जिस प्रकार हम यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उस युग के नाटक का स्वरूप क्या था, उसी प्रकार यह कहना भी असंभव है कि उस युग में रंगमंच का रूप क्या था।

प्राचीन भारत के संस्कृत भाषा के रंगमंच

भारत के नाट्य शास्त्र के ग्रन्थों में नाट्य-मंडप और रंगमंच के निर्माण के विषय में विस्तारपूर्वक निर्देश किया गया है। प्राचीन शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पर्वत की गुफाओं को खोदकर मंदिर बनाये जाते थे, उसी प्रकार आरंभिक रंगमंच भी गुफा के आकार के होते थे। संस्कृत के नाटकों से यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि जिस समय कालिदास, भवभूति आदि के नाटक लिखे गये, उस काल में रंगमंच पर्याप्त विकसित अवस्था में रहा होगा, जिसमें आकाशगामी सिद्ध विद्याधरों के विमानों के दृश्य तथा हेमकूट पर चढ़ती हुई अप्सराओं आदि के दृश्य भी दिखाये जा सकते थे।

भरत मुनि ने नाट्य मन्दिर का जो विवरण दिया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि नाट्य मंदिर के दो खंड होते थे और वह इस तरह बनाया जाता था कि उसका आकार विमान जैसा बन जाता था। शिल्पशास्त्र के अनुसार स्तम्भों के आधार पर बनाये गये दो या तीन खंडोंवाले प्रासाद को विमान कहते हैं। किन्तु इस प्रकार के विशाल शास्त्रीय रंगमंचों के अतिरिक्त उस युग में भी जनता में प्रचलित रंगमंच भी रहे होंगे, जिनका रूप अपेक्षाकृत छोटा और सरल होता होगा और जो आज रामलीला आदि के रंगमंच के रूप में लक्षित होते हैं।

भरत मुनि के अनुसार नाट्य-मंडप तीन प्रकार के होते थे:-"विकृष्ट", "चतुरस" और "व्यस्य"।

विकृष्ट रंगमंच का भरत मुनि ने विस्तार से वर्णन किया है। विकृष्ट नाट्य-मंडप की लम्बाई चौड़ाई से दुगुनी होती थी। उसके दो खंड होते थे। आगे

के आधे भाग में दर्शकों के बैठने का स्थान होता था और उसे रंगशाला कहा जाता था। यह सोपान की आकृति की बनायी जाती थी, जिससे सभी दर्शक सुविधापूर्वक नाटक देख सकें। ईंट और लकड़ी से इसका निर्माण होता था।

पीछे के आधे भाग के दो भाग किये जाते थे। एक भाग के आधे हिस्से में "रंगपीठ" और दूसरे आधे हिस्से में "रंगशीर्ष" होता था, और दूसरे भाग में नेपथ्य गृह बनाया जाता था। रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच में जवनिका रहती थी। "अपटी", "तिरस्करिणी" और "प्रतिसीरा" आदि ये सब जवनिका के अन्य नाम हैं। जवनिका के शब्द का यवनिका रूप भी मिलता है। यवनिका शब्द के आधार पर कुछ लोगों ने यह मत व्यक्त किया कि भारतीयों ने यवनिका का उपयोग यवनों से सीखा था, अतएव यह शब्द संस्कृत नाटकों पर यूनानी नाटकों के प्रभाव का द्योतक है। किन्तु प्रसाद जी ने इस मत का खण्डन किया है*। उन्होंने बताया है कि इस शब्द का शुद्ध रूप यवनिका नहीं वरन् जवनिका है। "जव" का अर्थ होता है वेग या त्वरा। अतएव जो पट शीघ्रता से उठाया या गिराया जा सके उसे जवनिका कहते हैं।

रंगशीर्ष में नेपथ्य के भीतर जाने के लिये दो दरवाजे होते थे। रंगशीर्ष यंत्रजाल, गवाक्ष से युक्त होता था, जिससे उसकी शोभा की वृद्धि होने के साथ-साथ वह दृश्यों के प्रस्तुत करने में अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता था। रंगशीर्ष ही अभिनय का मुख्य स्थान होता था। भिंडीबंध आदि साधारण नृत्य-अभिनय रंगपीठ पर ही प्रदर्शित किये जाते थे। इसके अतिरिक्त दासी आदि के द्वारा सूचना देने का कार्य तथा प्रस्तावना आदि भी रंगपीठ पर ही संपन्न होती थी।

इस प्रसंग में "मत्तवारणी" का भी उल्लेख हुआ है। मत्तवारणी का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक मत के अनुसार जिस प्रकार देवताओं के मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा करने के लिए बरामदा-सा होता है, उसी प्रकार रंगशाला के चारों ओर मत्तवारणी का निर्माण किया जाता था। कुछ विद्वानों के मतानुसार मत्तवारणी रंगपीठ के बराबर बनायी जाती थी और इसका उद्देश्य यह था कि मदिरा के नशे में मस्त लोगों को रंगपीठ तक पहुँचने से रोका जाय। मत्तवारणी का शाब्दिक अर्थ भी यही है।

---

* देखिए-काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध पृ० ६८

नाट्य मन्दिरों में स्थान-स्थान पर सुन्दर स्त्रियों-पुरुषों के चित्र अंकित होते थे तथा वातायन आदि भी बने होते थे। नाट्य-मण्डप में कई कक्षाएँ बनायी जाती थीं, जिनमें गृह, नगर, उद्यान, पर्वत आदि के दृश्य बनाये जाते थे और नाटक के प्रदर्शन में इन दृश्यों का यथावसर उपयोग किया जाता था। साथ ही भरत के नाट्य शास्त्र से इस बात का भी पता चलता है कि देवों-दानवों आदि के स्वरूपों की विलक्षणता के प्रदर्शन के लिए चेहरों का उपयोग भी किया जाता था तथा मिट्टी, फूस, मोम, लाख और अभ्रक आदि की सहायता से कृत्रिम हाथ-पैर, मुखादि का निर्माण किया जाता था। कोयल के पंखों से दैत्यों आदि की दाढ़ी-मूँछ भी बनायी जाती थी तथा चेहरों का निर्माण पीतल या अभ्रक आदि के पत्रों से किया जाता था, जिससे अभिनय करने में उनका भार बाधक न बने।

रंगमंच पर स्त्रियाँ और पुरुष दोनों ही कार्य करते थे। नाट्य मन्दिर में नर्त्तकियों का विशेष प्रबन्ध रहता था, जो नाटक के विविध नृत्यों का प्रदर्शन किया करती थीं। रगमंच पर कार्य करनेवाली स्त्रियों को अप्सरा या रंगोपजीवना कहा जाता था। पुरुष का स्वर कठोर होता है; इसलिए पाठ पुरुष करते थे। स्त्रियों का कण्ठ मधुर होता है; इसलिए गाने का कार्य स्त्रियों से करवाया जाता था।

नाटक में अभिनय दो प्रकार का होता था—एक "लोकधर्मी", द्वितीय "नाट्यधर्मी"। लोकधर्मी अभिनय में कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग न्यूनतम होता था। इस प्रकार के अभिनय के लिए रंगमंच की सरल योजना ही पर्याप्त होती थी। इसके अतिरिक्त नाटक में कुछ ऐसे कार्यों का प्रदर्शन भी होता था, जो लोक से भिन्न हैं—जैसे विमानों का उड़ना आदि। ये सब नाट्यधर्मी अभिनय के अन्तर्गत आता था। इसके प्रदर्शन के लिए विशेष प्रकार के प्रयास की अपेक्षा होती थी।

इस प्रकार के रंगमंच का भरत मुनि का केवल वर्णन ही मिलता है, यह नहीं; इस प्रकार के रंगमंचों के कुछ भग्नावशेष भी मिले हैं। ये भग्नावशेष छोटा नागपुर के रामगढ़ नामक स्थान पर दो गुफाओं में मिले हैं। ये गुफाएँ समुद्र से लगभग दो हजार फुट ऊँची पहाड़ी पर हैं। इस पहाड़ी के अन्तर भाग में १८० फुट लम्बा तथा यथेष्ट रूप से चौड़ा एक मार्ग है। पश्चिम की ओर दो

गुफाएँ हैं, उत्तर गुफा "सीताबेंगा" कहलाती है और दक्षिण गुफा "जोगीमारा"। लगभग ६० वर्ष पहले कर्नल जे० आर० आँसली ने इन गुफाओं का पता लगाया था। इन गुफाओं के निकट ही रामचन्द्र जी का मन्दिर है जिसमें राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान, शंकर और दुर्गा आदि की मूर्तियाँ हैं। वर्ष में एक बार यहाँ मेला भी लगता है और देश के विविध स्थानों से यहाँ सहस्रों श्रद्धालु मानव आते हैं। यद्यपि इन गुफाओं का पता कर्नल आँसली ने लगा लिया था, तथापि सन् १८६४ में डा० थियोडार ब्लाख के इन गुफाओं को देखने के पहले इन गुफाओं का महत्त्व मालूम नहीं हुआ था। सन् १८६४ में डा० थियोडार ब्लाख इन गुफाओं को देखने के लिए गये, जहाँ उन्होंने इन गुफाओं के चित्र उतारे। इन गुफाओं में अशोक के समय के ब्राह्मी लिपि में कुछ शिलालेख भी हैं। कर्नल ब्लाख ने इन शिलालेखों के भी चित्र लिये और जब इन शिलालेखों को पढ़ा गया, तब मालूम हुआ कि इनमें नाटक और काव्य का विवरण है। "सीता-बेंगा" गुफा अर्द्ध चन्द्राकार है। इसकी लम्बाई ४६ फुट और चौड़ाई २४ फुट है। गुफा के बाहर बैठनें के लिए पत्थर की आसन्दियों (एक प्रकार की कुर्सियों) की तीन पंक्तियाँ हैं। गुफा के भीतर भी बैठने के लिए इसी प्रकार की आस-न्दियों की तीन पंक्तियाँ हैं। ये आसन्दियाँ भूमि से लगभग ढाई फुट ऊँची हैं और सात फुट लम्बी हैं। बैठने के इस प्रबन्ध से यह अनुमान लगाया गया है कि इस गुफा में जो अभिनय होता था, उसे खुले मौसम में लोग बाहर और वर्षा आदि में भीतर बैठकर देखते थे। गुफा के पत्थरों में कुछ छेद भी हैं, जिससे ज्ञात पड़ता है कि लकड़ी की बल्लियां आदि खड़ी कर उनमें पर्दे इत्यादि लगाये जाते थे। इस गुफा का शिलालेख तीन फुट चौड़े और आठ फुट लम्बे पत्थर पर खुदा है, अक्षर लगभग ढाई इंच के हैं। लेख दो पंक्तियों में हैं—

१— अद्रिपयंति हृदयं।
सभावा-गरु कवयो ए रातयं ...
दुले वसंतिया। हासा वनू भूते।
कुद स्फतं एवं अलंग (त)

इस लेख की दूसरी पंक्ति के कुछ अक्षर मिट गये हैं। इसलिए ये पढ़े नहीं जा सके। डा० ब्लाख ने इस शिलालेख का जो अर्थ निकाला है तथा जिससे अन्य विद्वान भी सहमत हैं, वह कुछ इस प्रकार है—"कवियों का सम्मान होना चाहिए, क्योंकि वे हमारे मनों को प्रोत्साहन देते हैं। वसन्त में दोलोत्सव

होता है, जब उत्सव के गीत होते हैं और हास्य का स्रोत बहता है। ग्रीवा में मालती की माला पहने लोग आनन्द मनाते हैं।" डा० ब्लाख का कथन है कि इस शिलालेख से जान पड़ता है कि इस स्थल पर कविता का पाठ होता था, स्नेह के गीत होते थे और नाटकों का अभिनय। डा० ब्लाख और अन्य विद्वानों का मत है कि ईसा के तीन सौ वर्ष पूर्व अशोक के समय की यह गुफा रंगशाला है।

"जोगीमारा" गुफा में जो शिलालेख प्राप्त हुआ, उसमें भी ब्राह्मी लिपि में निम्नलिखित तीन पंक्तियों का लेख है —

सुतनुका नामदेव दशिक्यी –
तम कमयिथ बालानशेये –
देवदिन नाम लूप दक्खे –

इन टूटे हुए वाक्यों में अपनी ओर से कुछ शब्दों को मिला डा० ब्लाख तथा अन्य विद्वानों ने इन वाक्यों का जो अर्थ निकाला, वह कुछ इस प्रकार है— "सुतनुका नामक एक देवदासी इस गुफा में रहती थी और वाराणसी निवासी स्वरूप में दक्ष देवदिन नामक व्यक्ति उसका प्रेमी था।"

जोगीमारा गुफा में एक ऊँचा पत्थर का तख्त है। अनुमान किया जाता है कि इस पाषाण खण्ड पर बैठकर कविता, गीत आदि कहे जाते थे। जोगीमारा गुफा की छत पर पाँच चित्र चित्रित हैं। एक चित्र में एक वृक्ष की छाया में कुछ अभिनेताओं और अभिनेत्रियों के साथ एक व्यक्ति बैठा हुआ है। अभिनेता और अभिनेत्रियाँ इस व्यक्ति के बायीं ओर हैं और इस व्यक्ति के दाहिनी ओर से एक जुलूस जा रहा है। दूसरा चित्र केवल एक व्यक्ति का है। तीसरा चित्र भी एक ही व्यक्ति का है, पर उसके संग एक घोड़ा है और कुछ पुष्प फैले हुए हैं। चौथे चित्र में तीन परिचारकों के साथ एक मनुष्य है। परिचारक सवस्त्र हैं और यह मनुष्य नग्न। पाँचवें चित्र में एक ओर दो मनुष्य बैठे हुए हैं। इनके निकट इनके तीन परिचारक हैं। जिस जगह ये बैठे हैं वह एक कमरा है। कमरे की एक खिड़की में से एक हाथी दीख पड़ता है, जिसके निकट तीन आदमी खड़े हैं। इन चित्रों के नीचे सुतनुका और देवदिन के नाम भी खुदे हैं, जिससे जान पड़ता है कि ये चित्र अपनी प्रेमकथा के सम्बन्ध में दोनों ने मिलकर बनाये थे।

"सीताबेंगा" गुफा के अर्द्धचन्द्राकार होने से डा० ब्लाख ने अनुमान किया था कि उस काल के यूनानी रंगमंच भी इसी प्रकार अर्द्धचन्द्राकार हुआ करते थे; अतः यह रंगमंच यूनानी रंगमंच की प्रेरणा से बना। परन्तु, बाद में पश्चिम के कुछ विद्वानों और हमारे यहाँ के विद्वानों ने डा० ब्लाख के इस मत को भ्रमपूर्ण बताया। भारतीय विद्वानों ने तो यहाँ तक कहा कि यूनान के रंगमंच पर हमारे देश के इन रंगमंचों का प्रभाव पड़ा है। "सीताबेंगा" गुफा की रंगशाला भरत मुनि के नाट्य शास्त्र की निम्न पंक्तियों के आधार पर बनी जान पड़ती है—

स्तम्भानां बाह्यश्चापि सोपानाकृति पीठकम् ।
इष्टकादारुभिः कुर्यां प्रेक्षकानां निवेशनम् ।।

मथुरा में एक प्राचीन शिलालेख में "लेणशोभिका" नामक एक अभिनेत्री का उल्लेख है, जो किसी गुफा में रहती थी। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि की गुफाओं में कुछ चित्र चित्रित हैं। चित्रों में एक ऐसा चित्र मिला है जिसमें रंगमंच पर एक नृत्य का प्रदर्शन है। विद्वानों का मत है कि यह चित्र ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व का बना हुआ है। कालिदास ने "कुमार संभव" में किन्नरियों के अपने प्रेमियों के साथ गुफाओं में क्रीड़ा करने का वर्णन किया है। "मेघदूत" में वे "शिला वेश्य" शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका मल्लिनाथ ने पहाड़ी गुफा अर्थ किया है। कालिदास के कथनानुसार ऐसी गुफाओं में मनोरंजन के लिए रसिकगण आया करते थे। इन गुफाओं के द्वारों पर पर्दे पड़े रहते थे और गुफाओं के अन्दर अभिनय इत्यादि होते रहते थे। मथुरा के उपर्युक्त शिलालेख, उदयगिरि की गुफाओं के चित्र और कालिदास के वर्णन से जान पड़ता है कि "सीताबेंगा" और "जोगीमारा" के सदृश भारत में अन्य रंगमंच भी थे।

यह वक्ता स्वयं "सीताबेंगा" और "जोगीमारा" गुफाओं को देख चुका है और उदयगिरि की गुफाओं के चित्रों को भी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारतीय रंगमंच बड़ा समृद्ध एवं पूर्ण था। किन्तु जिस प्रकार मध्यकाल में नाटक रचना का ह्रास हुआ, उसी प्रकार रंगमंच का भी पतन आरम्भ हो गया। मुसलमानों के आक्रमणों से देश के उत्तरी भाग में ध्वंस का राग जाग उठा। देव मन्दिरों के साथ-साथ कलाकृतियों एवं कला-भवनों को भी धराशायी किया जाने लगा। हिन्दू

राजाओं, महाराजाओं के पतन के साथ-साथ उनके दरबार का कलापूर्ण वातावरण समाप्त हो गया। फिर आरम्भिक मुस्लिम आक्रमणों के समय कौन रंगमंच की ओर ध्यान देता! राजाओं के पतन के साथ-साथ उनके आश्रय में पनपनेवाले रंगमंचों का भी नाश हो गया। आश्चर्य एक बात पर होता है। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में जब विविध कलाओं का इतना उत्कर्ष हुआ, उस समय भी प्राचीन काल के इतने विकसित रंगमंच का पुनरुद्धार नहीं हुआ।

हाँ, मन्दिरों आदि से सम्बद्ध तथा लोक में प्रचलित रंगमंचों पर छोटे-मोटे अभिनय इत्यादि होते रहे। इनमें उत्तर में रासलीला, रामलीला, नौटंकी भगत, विदेशिया, स्वाँग, कीर्त्तनियाँ, जात्रा, दण्डनाट, छउ आदि तथा दक्षिण में कूत्तु, बुर्राकथा, हरिकथा, विधि नाटकम् इत्यादि प्रमुख थे। दक्षिण में मन्दिरों में नृत्य आदि में अभिनय की परंपरा इस बीच भी चलती रही।

आधुनिक भारत के व्यवसायी और अव्यवसायी रंगमंच

आधुनिक काल में रंगमंच की स्थिति पर विचार करते हुए हमारे सामने उसके दो रूप स्पष्ट हो जाते हैं। एक तो अव्यवसायी रंगमच है और दूसरा व्यवसायी रंगमंच। अव्यवसायी रंगमंच के अन्तर्गत एक तो स्कूल, कालिज, विश्वविद्यालय आदि के रंगमंच आते हैं; दूसरे ऐसे रंगमंच जिन पर वे व्यक्ति जो कि दफ्तरों, कारखानों आदि में काम करते हैं, मगर नाटक में रुचि होने के कारण अवकाश-काल में नाटक के प्रदर्शन आदि की तैयारी कर यदा-कदा नाटक खेलते रहते हैं। व्यवसायी रंगमंच के अन्तर्गत आधुनिक काल में जिन पारसी नाटक कंपनियों का कुछ समय पूर्व विकास हुआ था वे कंपनियाँ, उत्तर भारत के बंगाल, असम, उत्कल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण भारत के कुछ रंगमंच आते हैं; साथ ही आज का पृथ्वीराज कपूर का रंगमंच जो अभी कुछ समय पूर्व ही बंद हुआ है। इन रंगमंचों पर विचार करने के पूर्व मैं यह कह देना चाहता हूँ कि हिन्दी भाषा का आज पर्यन्त कोई व्यवसायीरंगमंच निर्मित नहीं हुआ। हिन्दी के नाटक अव्यवसायी रंगमंच पर ही खेले गये, जिस प्रकार अभी भी खेले जाते हैं। पारसी नाटक कंपनियों का रंगमंच यथार्थ में उर्दू भाषा का रंगमंच था। उर्दू और हिन्दी भाषा के अत्यधिक निकट संबंध के कारण उसे कुछ दूर तक हिन्दी का भी रंगमंच माना जा सकता है। फिर श्री नारायणप्रसाद बेताब के नाटकों की

भाषा भी कुछ हिन्दी हो चली थी। पृथ्वीराज जी के रंगमंच के सम्बन्ध में भी वही बात थी जो पारसी नाटक कम्पनियों के सम्बन्ध में थी। अब पहले मैं इन पारसी नाटक कम्पनियों के रंगमंचों को लेता हूँ।

पारसी नाटक कम्पनियों के रंगमंच

यद्यपि पारसी थियेटर कम्पनियों से पहले ही उत्तर भारत के हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में रामलीला, रासलीला आदि के जन रंगमंच अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप कार्य करते रहे थे, किन्तु वे अनेक दुर्बलताओं से ग्रस्त थे और उनके स्वरूप एवं प्रभाव में बहुत दोष आ गये थे। फिर पारसी थियेटर कम्पनियों के जन्म ने इन रंगमंचों के विकास को और भी अवरुद्ध कर दिया।

पारसी थियेटर कम्पनियों ने जो कार्य किया, उसके दो पक्ष हैं और दोनों पक्षों का अलग-अलग मूल्यांकन होना चाहिए। उनका एक पक्ष, जो बहुत कमजोर और दूषित था, वह यह रहा कि उन्होंने बहुत भद्दे और कुरुचिपूर्ण नाटकों का प्रदर्शन किया। इन रंगमंचों पर हास्य रस की जो "नकल" होती थी, उसमें तो अश्लीलता पराकाष्ठा तक पहुँच गयी थी। इसीलिए शिष्ट समाज में पारसी रंगमंच के प्रति जो उपेक्षा या घृणा के भाव जागे, वे आज भी पूरी तरह दूर नहीं हुए।

इन कम्पनियों के कार्य का दूसरा पक्ष है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि उन्होंने आधुनिक युग में उत्तर भारत में सबसे पहले विविध साधनों एवं उपकरणों से युक्त रंगमंच की नींव डाली। नौटंकी, भगत आदि के रंगमंच अत्यन्त सादे हुआ करते थे, जिनमें एक तखत आदि होता था और एकाध पर्दा पीछे डाल दिया जाता था। इन रंगमंचों पर केवल सामान्य कृत्यों का प्रदर्शन ही हो सकता था। पारसी कम्पनियों ने अपने रंगमंचों पर विविध पर्दों के द्वारा विविध दृश्यों की योजना की। इस प्रकार ये कम्पनियाँ नाटक के प्रदर्शन को पूर्ण, प्रभावशाली एव समृद्ध बना सकीं। यथासंभव प्रकृत दृश्यों को रंगमंच पर प्रस्तुत कर वातावरण बनाना और नाटक के प्रभाव को उत्पन्न करना पारसी थियेटर कम्पनियों की रंगमंच की एक महान देन है, जिसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

इन कम्पनियों ने लैला-मजनू, शीरीं-फरहाद और शेक्सपियर के नाटकों

के अनुवाद आदि के अभिनय के साथ-साथ शकुन्तला आदि नाटकों का अभिनय भी किया था, परन्तु इन कम्पनियों में जो दोष थे उनके कारण इन भारतीय नाटकों का प्रदर्शन भी विकृत हो गया था। भारतेन्दु ने अपने "नाटक" लेख में पारसी थियेटर कम्पनी द्वारा प्रस्तुत शकुन्तला नाटक के विषय में लिखा है—

"काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसका धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटे वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और "पतरी कमर बल खाय" यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कहकर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता, ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"

पारसी नाटक कम्पनियों में सबसे पहली कम्पनी "ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी" की स्थापना सन् १८७० में हुई। इस कम्पनी द्वारा खेले गये नाटकों की भाषा उर्दू प्रधान होती थी और उनमें गीतों की भरमार होती थी। इसके बाद सन् १८७७ ई० में "विक्टोरिया थियेट्रिकल कम्पनी" और "अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी" की स्थापना हुई। विक्टोरिया कम्पनी के प्रमुख नाटककार मुन्शी विनायकप्रसाद थे। इन्होंने विशेषकर उर्दू नाटक ही लिखे, जो इनके हिन्दी के नाटक कहलाते हैं। अल्फ्रेड कम्पनी काफी समय तक सफलतापूर्वक चलती रही, किन्तु सन् १९१४ में इसके मालिक कावस जी खटाऊ की मृत्यु हो गयी और यह कम्पनी मि० मदन के हाथों बेच दी गयी। उसने इसका नाम "न्यू अल्फ्रेड कम्पनी" रखा। इस कम्पनी के नाटककारों में प्रसिद्ध हैं आगा मोहम्मद "हश्र" काश्मीरी। इन कम्पनियों के अतिरिक्त "ओल्ड थियेटर कम्पनी", "जुबली कम्पनी", "अलेक्जेण्ड्रिया कम्पनी", "इम्पीरियल कम्पनी" आदि का भी कार्य चलता रहा।

आगे चलकर इन नाटक कम्पनियों के नाटकों में कुछ सुधार भी हुआ जिसका श्रेय श्री नारायणप्रसाद बेताब को है। उनके "महाभारत", "कृष्ण सुदामा" आदि नाटक पारसी कम्पनियों के सुधरे हुए नाटक माने जाते हैं। अलेक्जेण्ड्रिया कम्पनी द्वारा एक और "वतन" नामक नाटक खेला गया, जो राष्ट्रीय भावनावाला था और जो उस काल में काफी प्रसिद्ध हुआ था।

काठियावाड़ की एक "सूर-विजय" और मेरठ की "व्याकुल भरत"

नाम की नाटक कम्पनियाँ भी थीं। ये कम्पनियाँ भी पारसी नाटक कम्पनियों के ढंग की ही थीं, पर इन कम्पनियों के नाटक कुछ सुधरे हुए थे। इन सब कम्पनियों की एक विशेषता के बारे में भी रामगोपालसिंह चौहान ने लिखा है—

"आरम्भ में तो इन कम्पनियों को केवल चमत्कार ही प्रिय था और अपनी उस चमत्कारप्रियता में स्वाभाविकता की सदैव ही हत्या होती रहती थी, किन्तु अपनी इस चमत्कारप्रियता के द्वारा इन कम्पनियों ने अनेक असंभव लगनेवाले दृश्यों को रंगमंच पर संभव बनाकर प्रस्तुत करने के प्रयास से रंगमंच की जिस टैकनीक और रंगमंचीय शिल्प (stage craft) का विकास किया, वह निःसन्देह आज भी हमारे लिए सीखने की वस्तु है।........ न्यू अल्फ्रेड कम्पनी द्वारा प्रदर्शित "वीर अभिमन्यु" नाटक में जयद्रथ का सिर कटकर उड़ता हुआ जाकर तपस्या करते हुए अपने पिता वृद्धक्षत्र की गोद में जाकर गिरना।........ "महाभारत नाटक" में दुःशासन के द्रौपदी का चीर हरण करने पर कृष्ण का सहसा प्रकट होकर द्रौपदी की साड़ी को बढ़ाते जाना—आदि कुछ ऐसे ही चमत्कारपूर्ण दृश्य हैं।"

मैंने स्वयं इन पारसी नाटक कम्पनियों के विविध नाटकों को देखा है, उनसे प्रेरणा प्राप्त की है और मैं भी चौहान जी के उपर्युक्त मत से सहमत हूँ।

पृथ्वीराज का रङ्गमंच

यहाँ अब कुछ "पृथ्वी थियेटर्स" के सबंध में भी कहना उपयुक्त होगा। पहले कहा गया है कि पृथ्वीराज जी का रङ्गमंच यथार्थ में हिन्दी का रंगमंच न होकर उर्दू का ही रङ्गमंच था। परन्तु, उसमें पारसी नाटक कम्पनियों की अश्लीलता और अस्वाभाविकता नहीं थी। साथ ही पारसी नाटक कम्पनियों में जो दृश्यों का चमत्कार रहता था, उससे भी यह रङ्गमंच वंचित रहा। पारसी नाटक कम्पनियों का सबसे अधिक आकर्षण उनके दृश्य थे। वह आकर्षण इस रंगमंच पर नहीं था। एक अंक में एक ही दृश्य रहता था और वह भी अत्यन्त साधारण। इस रङ्गमंच की सबसे बड़ी विशेषता इसका अभिनय था। यह रङ्गमंच क्यों असफल हुआ, इस पर भी यदि हम कुछ विचार कर लें तो वह भावी रङ्गमंचों के लिए उपयोगी होगा। इस रङ्गमंच की असफलता के मेरे मत से तीन कारण हैं। पहला इस रङ्गमंच पर खेले जानेवाले नाटक, दूसरा इन नाटकों

की भाषा और तीसरा रंगमंच के शाही खर्च। इस रंगमंच पर जो नाटक खेले गये, उनमें "कलाकार" तथा एकाध नाटक को छोड़ ऐसा कोई नाटक नहीं था जिसमें कोई स्थायी समस्या हो। साथ ही इस रंगमंच पर वर्षों तक चार-पाँच नाटक ही खेले जाते रहे। "पृथ्वी थियेटर्स" के देश भर में दौरे होते रहे और इन नाटकों का प्रदर्शन। दर्शकों के अनेक बार देख लेने के बाद भी मंच पर उन्हीं कृतियों की पुनरावृत्ति से दर्शक ऊब गये। नये-नये नाटकों को रंगमंच पर लाने में यह मंच सर्वथा असमर्थ रहा। साथ ही हिन्दी अथवा उर्दू के नामांकित नाटककारों के नाटक भी इस मंच पर नहीं आये, जिनसे दर्शक उत्साह से उन्हें देखने जाते। इस रंगमंच की भाषा ऐसी रही जो केवल पंजाब अथवा दिल्ली में समझी जा सकती थी। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी केवल हिन्दी भाषाभाषी राज्यों में ही समझी जाती है, यह नहीं। चूंकि उत्तर भारत की शेष सभी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और दक्षिण भारत की भाषाओं पर भी संस्कृत का प्रभाव है; इसलिए मेरा मत है कि देश में उन्हीं रंगमंचों का भविष्य है जिन पर संस्कृतनिष्ठ हिन्दी भाषा के नाटक अभिनीत हों। इस रंगमंच का खर्च भी बहुत अधिक रहा। फिर, यह रंगमंच पृथ्वीराज जी की व्यक्तिगत सम्पत्ति रही। यदि यह सहकारी संस्था होती, तो इसमें कलाकारों को भी अधिक दिलचस्पी रहती, साथ ही शायद सरकारी सहायता भी इसे मिल सकती। इतने पर भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यह रंगमंच आधुनिक काल का उत्तर भारत का सर्वश्रेष्ठ रंगमंच था और इसका असफल होना रंगमंच के क्षेत्र की एक बड़ी दुःखद घटना है।

हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में अव्यवसायी रंगमंच

इन कम्पनियों के नाटकों का प्रभाव चाहे जो भी पड़ा हो, पर इतन तो फिर भी माना जा सकता है कि इनके प्रयास के फलस्वरूप आधुनिक काल में फिर से रंगमंच की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ और अव्यवसायी मंचों पर कुछ हिन्दी नाटकों का अभिनय होने लगा। भारतेन्दु ने पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत "जानकी मंगल" नाटक के विषय में यह टिप्पणी लिखी थी —

"हिन्दी भाषा में जो सबसे पहला नाटक खेला गया वह "जानकी मंगल" था। स्वर्गवासी मित्र बाबू ऐश्वर्यनारायण सिंह के प्रयत्न से वह चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ में बनारस थियेटर में बड़ी धूमधाम से खेला गया।"

श्री प्रतापनारायण मिश्र की नीचे उद्धृत पंक्तियों से भी इन कम्पनियों के प्रभाव पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

"अनुमान १२ वर्ष हुए कि यहाँ के हिन्दुस्तानी भाई यह न जानते थे कि नाटक किस चिड़िया का नाम है। पहले-पहल श्रीयुत पंडितवर रामनारायण त्रिपाठी (प्रभाकर महोदय) ने हमारे प्रेमाचार्य (भारतेन्दु-लेखक) का बनाया हुआ "सत्य हरिश्चन्द्र" और "वैदिकी हिंसा" खेला था।.. .. हाँ, ८५ के सन् में "भारत दुर्दशा" खेली गयी और "भारत इन्टरटेनमेन्ट क्लब" की स्थापना हुई, जिसके उद्योग से दो बेर अंजामे बदी नाटक (पारसी वालों के ढंग का नाटकाभास) खेला गया। कुछ आशा की गयी थी कि कुछ चल निकलेंगे, पर थोड़े ही दिन में मेम्बरों में फूट पड़ जाने से दो क्लब हो गये। फूटी हुई शाखा एम० ए० क्लब के नाम से प्रसिद्ध है और पहली का नाम दो-एक हिन्दी रसिकों के उत्साह से "श्री भारत रंजिनी सभा" हो गया।"

सन् १८९८ में प्रयाग में "रामलीला नाटक मण्डली" की स्थापना हुई, जिसने कई नाटक सफलता के साथ खेले। बाद में इसका नाम बदलकर "हिन्दी नाट्य समिति" हो गया। सन् १९०९ में काशी में "नागरी नाट्य कला प्रवर्तन मण्डली" की स्थापना हुई, जो आगे चलकर दो मण्डलियों में विभक्त हो गयी— एक "भारतेन्दु नाटक मण्डली" और दूसरी "काशी नागरी नाटक मण्डली।" इन मण्डलियों में शिक्षित और सभ्य लोग ही अभिनय करते थे।

किन्तु ये सारे प्रयास परस्पर असंबद्ध और अप्रभावी होने के कारण हिन्दी रंगमंच की सम्यक प्रतिष्ठा में विशेष योग नहीं दे सके। इसका कारण आर्थिक अभाव ही था। फिर भी इस प्रकार के प्रयासों से ऐसी आशा की जा सकती थी कि आगे चलकर अधिक सम्बद्ध और सशक्त प्रयास होंगे।

किन्तु दुर्भाग्यवश ऐसा न हुआ। भारतेन्दु के पश्चात् अब तक नाटककारों ने रंगमंच की उपेक्षा ही की। और नाटककारों के अतिरिक्त अन्य किसी के लिए इस ओर आकृष्ट होने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। इसी बीच स्कूलों, कालेजों आदि में नाटक खेले जाने लगे और जैसे-जैसे स्कूलों, कालेजों की संख्या में वृद्धि हुई, उनमें नाटक खेलने की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। किन्तु ये प्रयास भी असंबद्ध, अवैज्ञानिक और मुक्त रूप से चले। इस विषय पर आज भी

उतनी गम्भीरता और लगन के साथ नहीं सोचा जा रहा है जितनी अपेक्षा है। आधुनिक काल के हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों के इन उर्दू भाषा प्रधान नाटक कम्पनियों के मैंने स्वयं न जाने कितने नाटक देखे हैं। इनमें जो नाटक सफल हुए, उनमें अभिनेताओं का भी प्रधान हाथ रहा है। पुरानी अल्फ्रेड कम्पनी के मालिक श्री कावस जी पालन जी का अभिनय यद्यपि मैंने अपनी बाल्यावस्था में देखा था, परन्तु उसका मेरे मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि आज भी मैं उस अभिनय को विस्मृत नहीं कर पाया हूँ। इसी प्रकार पृथ्वीराज कपूर जैसा अभिनय करते हैं, वह अभिनय उत्कृष्ट से उत्कृष्ट अभिनय कहा जा सकता है। मैंने इन दिनों योरप, अमेरिका, चीन और जापान के नाटकों का भी अभिनय देखा है और मैं मुक्तकंठ से कह सकता हूँ कि इन देशों के रंगमंचों के अच्छे से अच्छे अभिनेताओं के अभिनय से पृथ्वीराज जी का अभिनय किसी भी दृष्टि से कम नहीं माना जा सकता। भारतीय रंगमंच के तो वे आज सर्वश्रेष्ठ अभिनेता हैं ही; इतने पर भी उनका रंगमंच क्यों असफल हुआ, इस संबंध में पहले कुछ कहा गया है।

आधुनिक अन्य भारतीय भाषाओं के रंगमंच

आधुनिक काल में अन्य भारतीय भाषाओं के भी रंगमंचों का विकास हुआ है; इनमें सबसे पहले बंगला रंगमंच का।

बंगला रंगमंच

बंगला में महाकवि जयदेव कृत "गीत गोविन्द" का गायन अभिनय के साथ होता था; परन्तु यह किसी रंगमंच पर किया जाता था, इसका उल्लेख नहीं मिलता। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में चण्डीदास कृत "श्री कृष्ण कीर्त्तन' के कीर्त्तन में भी अभिनय रहता था; परन्तु वह भी किसी विशिष्ट रंगमंच पर होता था, यह नहीं कहा जा सकता। श्री चैतन्य महाप्रभु के समय "जात्रा" अभिनय की बड़ी धूम रही; परन्तु इन "जात्रा" अभिनयों में भी कोई रंगमंच नहीं रहता था।

बंगला के आधुनिक रंगमंच का आरम्भ पलासी के युद्ध के पश्चात् अंग्रेजों ने किया। सबसे पहला रंगमंच कलकत्ते में "प्ले हाउस" के नाम से बना, जिस पर अंग्रेजी नाटक खेलना आरम्भ हुआ। इसके बाद सन् १७७६ ईस्वी में "कलकत्ता थियेटर" के नाम से एक रंगमंच बना। परन्तु इस रंगमंच पर भी अंग्रेजी

नाटक ही खेले जाते रहे। बंगाली नाटकों का खेला जाना आरम्भ किया एक रूसी कलाकार हेरेसिम लेवेदेफ ने। यह हुआ २७ नवम्बर सन् १७९५ में। श्री लेवेदेफ ने "न्यू थियेटर" नामक एक रंगमंच बनाया था, जिस पर पहले अंग्रेजी नाटक खेले जाते थे। जो पहला बंगला नाटक १७९५ की २७ नवम्बर को खेला गया, वह भी अंग्रेजी नाटक "दि डिस्गाइस" नामक नाटक का बंगला अनुवाद था, जो लेवेदेफ ने अपने बंगला भाषा के गुरु बाबू गोलोकनाथ दास की सहायता से किया था। उपर्युक्त बातों का उल्लेख नाट्य साहित्य के भाषण में भी किया जा चुका है। "न्यू थियेटर" के बाद बंगला में अनेक छोटे-बड़े रंगमंचों की स्थापना हुई। इनमें "हिन्दू थियेटर" सबसे प्रधान था। "हिन्दू थियेटर" की स्थापना सन् १८३१ में श्री प्रसन्नकुमार टैगोर ने की, जिस पर श्री भारतचन्द्र का पहला मौलिक बंगला नाटक "विद्या सुन्दर" सन् १८३३ में खेला गया। यह नाटक "गीत नाट्य" था। "हिन्दू थियेटर" के रंगमंच पर अनेक बंगला तथा संस्कृत और अंग्रेजी से अनूदित नाटक होते रहे। परन्तु सन् १८५६ में "बेलगछिया थियेटर" की स्थापना तक इन रंगमंचों में स्थायित्व न आ पाया था। यह स्थायित्व आया "बेलगछिया थियेटर" की स्थापना के बाद और इन रंगमंचों को व्यवसायी रंगमंच बनाया सन् १८७२ ईस्वी में "नेशनल थियेटर" की स्थापना ने।

बंगाल में रंगमंच का पूर्ण विकास सन् १८८३ ईस्वी की २१ जुलाई को "स्टार थियेटर" के उद्घाटन से हुआ। "स्टार थियेटर" के निर्माण का श्रेय बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार एवं अभिनेता श्री गिरीश घोष और उनके साथ रंगमंच पर कार्य करनेवाली बंगाल की प्रसिद्ध अभिनेत्री श्री विनोदिनी को है। "स्टार थियेटर" के विकास के साथ श्री गिरीश घोष की नाट्य कला का भी विकास हुआ। "स्टार थियेटर" पर पहला जो "दक्षयज्ञ" नाटक खेला गया, वह श्री गिरीश घोष का ही था और उसमें दक्ष का काम स्वयं श्री गिरीश ने तथा सती का काम श्री विनोदिनी ने किया था। आगे चलकर जब गिरीश घोष के ही नाटक "चैतन्य लीला" में विनोदिनी ने अभिनय किया, तब स्वामी रामकृष्ण परमहंस स्वयं उस नाटक को देखने अपने शिष्यों सहित पधारे थे और जब उनके एक शिष्य ने उस नाटक के सम्बन्ध में परमहंस जी से पूछा "गुरुदेव, आपको यह नाटक कैसा जान पड़ा?" तब परमहंस जी ने उत्तर दिया कि "मुझे तो यह नाटक सत्य जैसा ही लगा।" नाटक के पश्चात् स्वामी जी जब रंगमंच के कार्यालय में पधारे और विनोदिनी ने उनके चरण स्पर्श किये, उस

समय वे आनन्द से नाच-से उठे और "हरि हरि" का गीत गाने लगे। उन्होंने विनोदिनी को आशीर्वाद दिया—"तुम चैतन्य पद प्राप्त करो।"

बंगाल के रंगमंच पर मैंने श्री द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों का भी बड़ा सफल अभिनय देखा है। गुरुदेव श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के भी अनेक नाटक रंग-मंच पर अभिनीत हुए हैं। इनमें से कुछ नाटकों में मैंने स्वयं गुरुदेव का अभिनय देखा है, परन्तु गुरुदेव की महानता नाटककार और अभिनेता के रूप में न होकर कवि के रूप में थी। उनके अभिनय पर उनके व्यक्तित्व की ऐसी छाया रहती थी कि उस अभिनय में महानता रहती थी उनके व्यक्तित्व की, अभिनय गौण हो जाता था।

आधुनिक काल में मैंने कलकत्ते में श्री शिशिर भादुड़ी और श्री दुर्गा-दास का भी अभिनय देखा है। जिन रंगमंचों पर जिन नाटकों में ये अभिनय करते थे, उन रंगमंचों और नाटकों की विशेषता इनके अभिनय से बढ़ जाती थी।

सिनेमा के इस युग में भी बंगला रंगमंच बराबर चलता रहा है। आज भी कलकत्ते में रंगमंच का जैसा दौरदौरा है, शायद भारत के किसी स्थान में नहीं। कलकत्ते में पाँच व्यवसायी बंगला नाट्यशालाएँ चलती हैं—"स्टार थियेटर," "विश्वरूप थियेटर", "रंगमहल थियेटर", "न्यू एम्पायर थियेटर" और "मिनर्वा थियेटर।" इनमें प्रथम तीन घूमनेवाले (रिवाल्विंग) रंगमंच हैं। पारसी नाटक कम्पनियों की तो अब समाप्ति हो गयी, परन्तु उस प्रकार के उर्दू मिश्रित हिन्दी और मारवाड़ी भाषा के नाटक कलकत्ते में "मून लाइट थियेटर" में होते हैं। शायद "मून लाइट थियेटर" को छोड़कर अब इस प्रकार का कोई व्यवसायी रंगमंच भारत में कहीं नहीं है।

मुझे विश्वसनीय सूत्र से यह भी ज्ञात हुआ है कि कलकत्ते में प्रति वर्ष लगभग दो हजार नाटक अव्यवसायी रंगमंचों पर अभिनीत होते हैं। इनमें बंगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, तमिल और तेलगू भाषा के नाटक प्रधान रूप से खेले जाते हैं।

असमिया रंगमंच

नाट्य साहित्य के विवेचन में मैं कह चुका हूँ कि बंगाल के सदृश असम

में भी "जात्रा" नाट्य प्रदर्शनों का उल्लेख मिलता है। इसके बाद जिसे नाटक कहा जा सकता है, ऐसे नाटक सर्वप्रथम असमिया में श्री शंकरदेव ने लिखे, जिन्हें असमिया भाषा का पहला नाटककार माना जाता है और जिनका समय सन् १४४६ से सन् १५५८ के बीच था। इनके नाटक रंगमंच पर भी आये थे। उस समय के असम के कुछ रंगमंचों का भी उल्लेख मिला है। ये नाटक संध्या को अथवा रात्रि में खुले में खेले जाते थे, जिनका मिलान आधुनिक काल के "ओपन एयर थियेटर" से किया जा सकता है। इन रंगमंचों को "नाचघर" कहा जाता था और इनमें जवनिका के सदृश एक परदा भी रहता था, जिसे "आरकापोर" कहते थे। अभिनेता के आने के पहले यह परदा हटता था, और इसके हटने पर अभिनेता, जिन्हें "नटुआ" नाम दिया गया था, रंगमंच पर नाचते हुए आते थे। इस रंगमच पर सूत्रधार भी रहता था, जिसकी वेशभूषा का भी वर्णन मिलता है। यह सूत्रधार एक लंबा चोगा पहने रहता था और इसके सिर पर पगड़ी रहती थी। जिन नाटकों का प्रदर्शन होता था, वे एक ही अंक के होते थे। इनका नाम "अंकिया नाट" था। अतः परदा बार-बार हटाने और लगाने की आवश्यकता नहीं होती थी। असम में इस प्रकार के रंगमंच उन्नीसवीं शताब्दी तक चले। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जब कलकत्ते में व्यवसायी रंगमंच की स्थापना हुई, उसके बाद असम में भी रंगमंच की स्थापना का प्रयत्न किया गया, परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। वहाँ अव्यवसायी रंगमंच पर ही नाटक खेले जाते रहे। सिनेमा के युग में भी बंगाल में जिस प्रकार रगमंच सफलतापूर्वक चलता रहा, उस प्रकार असम में नहीं हो सका। अद्यापि काल तक असम में कोई व्यवसायी रंगमंच नहीं है। अव्यवसायी रंगमंचों पर आधुनिक समय में जिस प्रकार के परदे आदि रहते हैं, वैसे यहाँ के अव्यवसायी रंगमंचों पर भी रहते हैं और जब नाटक खेला जाता है, तब टिकिट आदि भी बिकते हैं।

उड़िया रंगमंच

उत्कल ललित कलाओं का आरम्भ से ही बहुत बढ़ा हुआ क्षेत्र है। नाट्य साहित्य के विवरण में मैंने कहा है कि बम्बई से जो थियेटर यूनिट बुलेटिन निकलता है, उसके १९५६ ईस्वी के मई महीने के अंक में डाक्टर चार्ल्स फाब्री ने लिखा है कि भुवनेश्वर के निकट जो उदयगिरि की गुफाएँ हैं, उनमें एक ऐसा चित्र मिला है जिसमें रंगमंच पर एक नृत्य का प्रदर्शन है और यह चित्र ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी का माना जाता है। इसके सिवा वहाँ के पुराने मन्दिरों में जो प्राचीन चित्र मिलते हैं, उनमें से भी कुछ में रंगमंच का आभास मिलता है।

उड़िया भाषा के नाट्य साहित्य का वर्णन करते हुए मैंने कहा था कि प्राचीन काल में शिव और पार्वती के विवाह काल का एक नाटकीय प्रदर्शन होता था जिसे "दंडनाट" कहते थे। इसी "दंडनाट" से "छउ" नृत्य निकला जिसकी अब अन्तर्राष्ट्रीय प्रसिद्धि हो गयी है। प्राचीन काल में "दण्डनाट" का प्रदर्शन किसी रंगमंच पर होता था अथवा खुले में, यह नहीं कहा जा सकता। उड़ीसा में कुछ और भी लोकनृत्य प्रचलित हैं, जिनका उल्लेख भी मैं अपने नाट्य साहित्य के भाषण में कर चुका हूँ; इनमें "रंगसभा", "पाला" और "दास काठिया" सबसे प्रसिद्ध है। उडीसा का पहला रंगमंच बीसवीं सदी में कटक के नजदीक "कोठा-पटा" मठ के आसपास स्थापित हुआ था। इस रंगमंच पर इन लोकनृत्यों का तथा श्री बैष्णवपाणि द्वारा लिखे गये कुछ लोक नाटकों का अभिनय आरम्भ हुआ। इस रंगमंच के बाद "उषा" तथा "वासन्ती" नामक रंगमंच कटक में बनाये गये। ये रंगमंच पक्के बने हुए नहीं थे; कच्ची दीवालों और फूस के छप्परवाले थे।

उड़ीसा के रंगमंच का पूर्ण विकास आधुनिक समय में श्री कालीचरण पट्टनायक के काल में हुआ, जिन्होंने इस रंगमंच पर विविध प्रकार के दृश्यों की भी योजना की। श्री पट्टनायक जी ने उड़िया नाट्य साहित्य और उड़िया रंग-मंच के विकास के लिए "उड़िया थियेटर पार्टी" नामक एक संगठन किया।

अन्य ललित कलाओं के सदृश उड़िया रंगमंच का आधुनिक इतिहास भी काफी गौरवपूर्ण रहा है। इस समय उडीसा में अव्यवसायी रंगमंचों को छोड़ चार व्यावसायिक प्रेक्ष्यागृह चल रहे हैं, जहाँ ऐतिहासिक, सामाजिक सभी तरह के नाटकों का अभिनय होता है। नाटक ढाई से तीन घण्टे तक चलते हैं। इन चार रंगमंचों में से दो कटक में हैं, एक ब्रह्मपुर में और एक पुरी में। मैंने स्वयं यहाँ के नाटकों का अभिनय देखा है। सिनेमा यहाँ के रंगमंचों को कोई धक्का नहीं पहुँचा सका। इसका कारण यह भी हो सकता है कि उड़िया भाषा में बहुत कम फिल्में बनी हैं।

मराठी रंगमंच

महाराष्ट्र में भी प्राचीन समय में बंगाल के सदृश "जात्रा" नामक एक प्रकार के नाटक अभिनीत होते थे, जिनका नाम आगे चलकर "दशावतारी खेल" हुआ। आधुनिक काल में सन् १८४३ में महाराष्ट्र में पहला रंगमंच स्थापित

हुआ। इन दोनों बातों का उल्लेख मैं अपने नाट्य साहित्य के भाषण में कर चुका हूँ।

यों तो आधुनिक मराठी रंगमंच का आरम्भ दक्षिण के तन्जौर नामक राज्य में हुआ था, जहाँ उस समय मराठे शासन करते थे। कहते हैं, सन् १८४३ के भी दो सौ वर्ष पूर्व तन्जौर के एक मराठा शासक ने खुद नाटक लिखे थे और उनका अभिनय भी कराया था, परन्तु उस समय का कोई रंगमंच स्थायी नहीं हो सका। स्थायित्व आया मराठी रंगमंच को सन् १८४३ में, जिसके कुछ पहले गोआ में कुछ नाटकों का प्रदर्शन हुआ करता था। गोआ के इन प्रदर्शनों के साथ ही मराठी रंगमंच पर कन्नड़ के रंगमंच का भी प्रभाव पड़ा। सन् १६४३ में मराठी रंगमच की शताब्दी का उत्सव भी मनाया गया था।

सबसे पहले दक्षिण महाराष्ट्र के सांगली नामक स्थान में एक नाटक मण्डली बनी, जहाँ उसने व्यावसायिक ढंग से नाटक खेलना आरम्भ किया। कुछ बाद इस नाटक मण्डली के महाराष्ट्र में दौरे आरम्भ हुए, जिनसे प्रेरित होकर वहाँ कई नाटक मण्डलियाँ और कई रंगमंच बने। आगे चलकर मराठी साहित्य में गद्य और पद्य दो प्रकार के नाटक खेले जाने लगे। पद्य नाटकों को वहाँ "गेय" नाटक कहते थे। "गेय" नाटक के सबसे महान् अभिनेता श्री बालगंधर्व थे। वे सदा स्त्री पात्र का काम करते थे। मैंने उनका अनेक नाटकों में अभिनय देखा है। इस काल में श्री मामा साहेब वरेरकर ने मराठी रंगमंच में कुछ आधुनिक परिवर्तन आरम्भ किये, जिनको श्री वर्तक के नेतृत्व में "नाट्य मनवन्तर" नामक एक संस्था ने और अधिक आधुनिक कर दिया।

महाराष्ट्र के रंगमंच पर सिनेमा का थोड़ा-बहुत प्रभाव न पड़ा हो, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु महाराष्ट्र रंगमंच एक विकसित रूप में सन् १८४३ के बाद बराबर चलता रहा है और आज भी चल रहा है।

गुजराती रंगमंच

प्राचीन समय में गुजरात के अम्बाजी और बाहुपारगी मन्दिरों में समय-समय पर पद यात्रा के लिए जानेवालों में स्त्रियों का अभिनय करना एक धार्मिक कर्त्तव्य माना जाता था। यह अभिनय महाराष्ट्र के "जात्रा" अभिनयों से मिलते-जुलते थे और इन्हें वहाँ "भवाई" या "वेश अभिनय" कहा जाता था,

जो मुख्य रूप से हास्य रस के होते थे और इनका उद्देश्य किसी न किसी प्रकार की शिक्षा देना भी रहता था। इसका उल्लेख मैं अपने नाट्य साहित्य भाषण में कर चुका हूँ। गुजरात में सबसे पहले इसी अभिनय का पता लगता है, परन्तु इस अभिनय के लिए कोई रंगमंच शायद नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में गुजरात में "नाटक उत्तेजक मण्डल" नामक एक संस्था का निर्माण हुआ। इसका उल्लेख भी मैं अपने नाट्य साहित्य भाषण में कर चुका हूँ। "नाटक उत्तेजक मण्डल" ने ही गुजराती रंगमंच की स्थापना की। इसके बाद वहाँ अनेक नाटक कम्पनियाँ बनीं जो दौरा करती रहती थीं; यहाँ तक कि इनमें से एक-दो कम्पनियाँ अन्य देशों में इंगलैण्ड तक गयीं। परन्तु इन कम्पनियों के रंगमंच पर जो नाटक खेले जाते थे उनमें और जो साहित्यिक नाटक अब लिखे जाने लगे थे उनमें भारी दरार थी। साहित्यिक नाटकों का इस व्यवसायी रंगमंच पर स्थान न हो पाता था और रंगमंच पर खेले जानेवाले नाटकों का साहित्य में कोई स्थान न था। साहित्यिक नाटक अव्यवसायी रंगमंच पर ही होते थे।

गुजराती का उस समय का रंगमंच पारसी कम्पनियों के रंगमंच से मिलता-जुलता था, परन्तु गुजराती रंगमंच पर उतने अधिक विकृत और अश्लील नाटकों का प्रदर्शन नहीं होता था, जितना पारसी नाटक कम्पनियों के रंगमंच पर।

बीसवीं सदी की प्रथम दो दशाब्दियों में मैंने स्वयं बम्बई में कुछ बहुत अच्छे गुजराती नाटकों का वहाँ के एक व्यवसायी रंगमंच पर, जिसका नाम "गुजराती नाटक मण्डली" था, अभिनय देखा है। इस रंगमंच के कुछ प्रसिद्ध नाटकों का नाम मुझे अभी भी स्मरण है, जैसे "सौभाग्य सुन्दरी", "वसन्त प्रभा" "मधु बंसरी" इत्यादि। इस कम्पनी के दो अभिनेता उस समय सारे बम्बई नगर और गुजरात में प्रसिद्ध थे। इनका नाम था बापूलाल और जयशंकर। बापूलाल पुरुष का काम करते थे और जयशंकर स्त्री का। दोनों का अभिनय मैं अब तक नहीं भूल पाया हूँ। जयशंकर स्त्री का अभिनय करते-करते बाह्य आकृति, अंग विक्षेप, संभाषण आदि में पूर्णतः स्त्री के अनुरूप हो गये थे। सुन्दर तो वे थे ही, सिर के बाल लम्बे रख लिये थे और रंगमंच के बाहर यद्यपि वे पुरुषों के सदृश कपड़े पहनते थे, पर चालढाल, बातचीत सब स्त्रियों के सदृश

प्रकार हम देखते हैं कि तमिल भाषा का प्राचीन रंगमंच अत्यन्त विकसित था।

तमिल भाषा के आधुनिक रंगमंच का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में तन्जौर के मराठा राजाओं के राज्यकाल में हुआ, जिससे आगे चलकर मराठी रंगमंच भी प्रभावित हुआ। समाज में ऊँचे तपके के इस रंगमंच के साथ समाज के नीचे तपके के लोगों का भी एक रंगमंच चलता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में एक पारसी नाटक कम्पनी मद्रास आयी। उसके नाटकों को देख वहाँ ऐसे रंगमंच का आरम्भ हुआ, जिसमें नाटक का विभाजन कई अंकों और दृश्यों में होता है। अब तक तमिल भाषाभाषी इस प्रकार के दृश्यों और अंकों में विभाजित नाटक से अपरिचित थे। इसी बीच तमिलनाड में "सुगुण विलास सभा" की स्थापना हुई, जिसके प्रयत्न से तमिलनाड में आधुनिक रंगशालाओं का निर्माण हुआ। श्री टी० सम्बन्द मुदलियार इस सभा के नेता थे।

तमिल भाषा का आधुनिक रंगमंच भी वहाँ के प्राचीन रंगमंच के सदृश समृद्ध है और उसे चित्रपट बहुत क्षति नहीं पहुँचा सका है।

मलयालम रंगमंच

तमिल भाषाभाषी क्षेत्र के सदृश ही मलयालम भाषाभाषी क्षेत्र केरल में भी नाट्य कला, नाटक और रंगमंच का विकास प्राचीन काल में हो गया था। मैं अपने नाट्य साहित्य के भाषण में यह कह चुका हूँ कि 'कूत्तु" शब्द तमिल और मलयालम दोनों ही भाषाओं में नाटक और नृत्य के लिए प्रयुक्त होता है और यह शब्द तीन हजार वर्ष पुराना है। तमिल भाषाभाषी क्षेत्र के सदृश केरल के देवमन्दिरों और राजभवनों में रंगमंच थे और "कूत्तु" कला के अभिनय वहाँ प्राचीन काल में होते थे।

आधुनिक काल के रंगमंच का विकास केरल में भी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में हुआ। पहले संस्कृत से अनूदित नाटक रंगमंच पर आये, फिर शेक्सपियर के अनूदित नाटक और फिर मौलिक नाटक। केरल के आधुनिक रंगमंच भारत के अन्य स्थलों के रंगमंच के सदृश ही हैं। सिनेमा यहाँ के रंगमंच को भी बहुत प्रभावित नहीं कर पाया।

कन्नड़ रंगमंच

मैंने अपने नाट्य साहित्य भाषण में कहा है कि कर्नाटक में बहुत प्राचीन काल से दो तरह के अभिनयों का प्रचलन था—एक देहाती और दूसरा शहराती। इन अभिनयों के लिये कर्नाटक में उस समय तमिल भाषाभाषी क्षेत्र के सदृश किसी रंगमंच का कोई उल्लेख नहीं मिलता, शायद ये अभिनय खुले में होते थे।

कर्नाटक का आधुनिक रंगमंच बीसवीं शताब्दी की ही देन है। वहाँ भी इस काल में अनेक व्यावसायिक नाटक मण्डलियाँ बनीं और इनके रंगमंच भी। इन रंगमंचों पर संस्कृत और अंग्रेजी के पहले अनूदित नाटक खेले गये और तदुपरान्त मौलिक नाटक भी। आजकल वहाँ के रंगमंचों पर दोनों प्रकार के नाटक होते हैं—पूरे नाटक और एकांकी। पूरे नाटकों में बहुधा एक अंक में एक ही दृश्य रहे, इसका यहाँ सबसे अधिक प्रयत्न हुआ है। यह प्रयत्न प्रधानतया श्रीयुत् श्रीरंग नामक नाटककार ने किया है। सिनेमा के बावजूद कर्नाटक का आधुनिक रंगमंच चलता रहा है और अब भी चल रहा है।

तेलगू रंगमंच

मैं अपने नाट्य साहित्य भाषण में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त कर चुका हूँ कि तमिल भाषा क्षेत्र में नाट्य साहित्य के अत्यन्त प्राचीन काल से विकास होने पर भी तथा संस्कृत का तेलगू भाषा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ने पर भी, सन् १८७० तक तेलगू भाषा में न तो अनूदित नाटक ही थे और न मौलिक। यही बात रगमंच के सम्बन्ध में भी है। रंगमंच के बिना साहित्यिक लिखित नाटकों का तो अस्तित्व हो सकता है, परन्तु नाटकों के बिना रंगमंच का नहीं। आन्ध्र में उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में अनेक नगरों में नाट्य समाजों का संगठन हुआ। इसने रंगमंचों का निर्माण किया। ये नाटक मण्डलियाँ भी होती थीं। इनमें राजमहेन्द्री के "चिन्तामणि नाटक समाज" और बिशाखापट्टनम् के "जगनमित्र नाटक समाज"—दो नाटक मण्डलियों ने आरम्भ में काफी सफलता प्राप्त की। इन नाटक मण्डलियों में यहाँ एक विशेष बात थी—हरेक मण्डली में बहुधा एक ही बड़े कुटुम्ब के लोग सम्मिलित हुआ करते थे। स्त्रियाँ भी अभिनय करती थीं और यह कोशिश की जाती थी कि जहाँ तक हो सके पति-पत्नी को मंच पर भी उसी रूप में लाया जावे। ये व्यवसायी रंगमंच थे और लगभग बीस वर्ष तक ये अपना रोजगार चलाते रहे। परन्तु, आन्ध्र में

सिनेमा ने इस रंगमंच पर अत्यधिक प्रभाव डाला। पारसी नाटक कम्पनियों के सदृश आन्ध्र की ये कम्पनियाँ भी नष्ट हो गयीं। वहाँ फिर से रंगमंच के पुनरुद्धार का प्रयत्न आरम्भ हुआ है, परन्तु अभी तो वहाँ के नाटक अव्यवसायी रंगमच पर ही अभिनीत होते हैं। हाँ, उन पर बहुधा टिकिट लगता है और इस प्रकार के अव्यवसायी रंगमंचों को इस ढंग पर लाने में सुभीता हो जाता है। आजकल आन्ध्र की "नाट्य कला परिषद्" नाटककारों को पुरस्कार इत्यादि देकर नाट्य साहित्य के निर्माण में प्रोत्साहित कर रही है।

भारत में रंगमंच की आवश्यकता और उसकी समस्याएँ

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में उत्तर और दक्षिण दोनों में ही नाट्य साहित्य के साथ ही रंगमंच का भी अत्यधिक विकास हुआ था।

दक्षिण भारत में तो रंगमंच किसी न किसी रूप में शृंखलाबद्ध चलता रहा, परन्तु उत्तर में भवभूति के पश्चात् नाट्य साहित्य के साथ ही रंगमंच का भी लोप-सा हो गया। हम यदि बंगाल, असम और उत्कल को छोड़ दें, जहाँ एक विशिष्ट नाट्य पद्धति "जात्रा" सोलहवीं सदी में चलती थी, तो उत्तर भारत में आधुनिक नाट्य साहित्य और रंगमंच दोनों का ही फिर से आरम्भ उन्नीसवीं सदी में ही हुआ। परन्तु, सिनेमा के पहले मूवी और फिर टाकी रूप ने रंगमंच को उत्तर भारत में काफी धक्का पहुँचाया। जब पहले सिनेमा का बिना बोलनेवाला मूवी रूप कुछ पुराना पड़ा तब रंगमंच फिर कुछ ऊपर उठा, पर उसी समय बोलनेवाले सिनेमा के टाकी रूप की उत्पत्ति हो गयी।

संस्कृत के रंगमंच के लुप्त होने के बाद हिन्दी का रंगमंच तो बना ही न था। भारत के हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में पारसी नाटक कम्पनियाँ उर्दू के नाटक करती थीं। इनमें अनेक दोष थे। अतः हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र का यह उर्दू रंगमंच टाकी का उदय होते ही एकदम समाप्त हो गया। उत्तर की भी अन्य जिन भाषाओं के रंगमंच यथेष्ट रूप में विकसित हो गये थे, जैसे बंगला, उत्कल, मराठी भाषाभाषी क्षेत्र, उन पर सिनेमा का असर न पड़ा हो यह तो नहीं हुआ, पर इन क्षेत्रों के रंगमंच नष्ट न हो सके। दक्षिण का तमिल भाषा-भाषी क्षेत्र का रंगमंच तो प्रायः पूर्ववत् ही चलता रहा।

संस्कृत भाषा के रंगमंच के लुप्त होने पर यदि हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र के रंगमंच का बंगला, उत्कल, मराठी, तमिल आदि भाषाभाषी क्षेत्रों के सदृश ही विकास हो गया होता, तो सिनेमा से ये रंगमंच नष्ट न हो पाते।

सिनेमा के विकास ने भी रंगमंच के विकास में बाधा पहुँचायी है, किन्तु इतना कह भर देना पर्याप्त नहीं है; वस्तुतः तो रंगमंच के निर्माण के लिए अपेक्षित शक्ति के साथ प्रयास ही नहीं हुआ। पाश्चात्य देशों में सिनेमा की कला भारतीय सिनेमा कला से अधिक उत्कृष्ट है। फिर भी वहाँ नाटकों के सफलतापूर्वक अभिनय होते हैं, जो कि सिनेमा की अपेक्षा कहीं अधिक लोकप्रिय होते हैं। अमरीका में इस बात का भी प्रयास किया गया है कि रंगमंच और सिनेमा दोनों का समन्वय किया जाय और यह प्रयास बहुत सफल रहा है। यहाँ अभी ऐसा प्रयास ही नहीं हुआ।

आज के भारतीय रंगमंच को लेकर हमारे सामने कई जटिल समस्याएँ उपस्थित होती हैं। संक्षेप में यहां मैं उनकी चर्चा करूँगा।

पहली समस्या तो यह है कि रंगमंच की स्थापना का कार्य कौन करे? सरकार या जनता? इस समस्या को लेकर विविध प्रकार से विवेचन किया जा सकता है, किन्तु कुछ बातें निर्विवाद रूप से कही जा सकती हैं। पहली बात तो यह कि आज का भारतीय जीवन सभी दृष्टियों से पिछड़ा हुआ है, उसमें उन्नति और विकास की बहुत गुंजाइश है। और ऐसी अवस्था में जब भी रंगमंच की स्थापना कोई साहित्यिक या सामाजिक संस्था करती है, तो उसके सामने सबसे बड़ी समस्या उपस्थित होती है आर्थिक कठिनाइयों की। आज का अव्यवसायी रंगमंच इससे पीड़ित तो है ही, साथ ही व्यवसायी रंगमंच भी इस प्रकार की कठिनाइयों से मुक्त नहीं है।

ऐसी अवस्था में आवश्यकता इस बात की है कि जो भी रंगमंच स्थापित हो, वह आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त न हो। इस आर्थिक अभाव को दूर करने के लिए इस देश की जनता के पास यथेष्ट धन नहीं है कि वह इस तजुर्बे में धन लगा सके। अतः यह काम सरकार को ही करना होगा। सरकार दो प्रकार से मदद कर सकती है। एक तो यह कि केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार बड़े नगरों में रंगमंचों की स्थापना करें और उनके व्यय का पूरा बोझ

स्वीकार करें। यद्यपि हरेक कार्य के लिए सरकार का मुंह ताकना कोई अच्छी बात नहीं है, फिर भी यह आवश्यक है कि रंगमंचों की परम्परा को कायम करने के लिए सरकार यथोचित सहायता दे, क्योंकि राष्ट्रनिर्माण का बहुत बड़ा कार्य ये रंगमंच कर सकते हैं, जो मैंने स्वयं चीन आदि देशों में देखा है।

दूसरे जो अव्यवसायी रंगमंच हैं, उनके लिए भी पर्याप्त सुविधाएँ देने की चेष्टा सरकार को करनी चाहिए। ऊपर रंगमंच के विकास में हिन्दी की विविध नाट्य समितियों का उल्लेख किया गया है, जो प्रधानतः आर्थिक अभाव के कारण नहीं चल सकीं। इसलिए यह आवश्यक है कि आज के अव्यवसायी रंगमंच को मरने से रोका जाय और उसकी यथोचित सहायता की जाय।

रंगमंच से सम्बद्ध ही दूसरी समस्या है अभिनेताओं के समुचित प्रशिक्षण की। विविध स्कूलों, कालेजों आदि में प्रति वर्ष नाटक आदि का अभिनय किया जाता है और उनमें से कई संस्थाओं के पास अच्छे रंगमंच भी हैं। होता यह है कि प्रति वर्ष कुछेक प्रतिभाशाली और नाटक में रुचि रखनेवाले दो चार लड़के-लड़कियों का चुनाव कर नाटक की तैयारी की जाती है और नाटक के प्रदर्शन के पश्चात् वे लड़के-लड़कियाँ सन्तुष्ट से होकर बैठ जाते हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रति वर्ष दो-चार नये अभिनेता या अभिनेत्रियाँ कालेजों को प्राप्त हो जाते हैं, मगर उनकी प्रतिभा का समुचित विकास नहीं हो पाता। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इन लोगों के लिए समुचित शिक्षा एवं निर्देशन का प्रबन्ध किया जाय, जो स्थायी हो और जिसमें ये लोग निरन्तर अपना विकास कर सकें।

एक अन्य समस्या है दर्शकों की। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि सिनेमा के सामने दर्शक नाटक आदि देखने के लिए नहीं जायेंगे, क्योंकि सिनेमा में नवीन वैज्ञानिक साधनों की सहायता से जिस चमत्कार का सृजन किया जा सकता है, वह रंगमंच पर कभी भी नहीं किया जा सकता। किन्तु यह तर्क स्वीकार नहीं किया जा सकता। कारण यह है कि पश्चिमी देशों में सिनेमा की अपेक्षा नाटक अधिक लोकप्रिय हैं और अधिक देर तक चलते हैं। कई नाटक तो ऐसे होते हैं जिनके छः छः महीने तक के टिकट आरम्भ में ही खरीद लिये जाते हैं। दूसरी बात यह है कि भारत के रंगमंच की प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसमें विकास भी किया जा सकता है। रंगमंच के साथ-साथ सिनेमा की कला

का समन्वय किया जा सकता है और इस प्रकार उसे अधिक आकर्षक बनाया जा सकता है ।

एक अन्य प्रमुख समस्या है नाट्य समितियों और नाटककारों के सम्बन्ध की । पारसी कम्पनियों की सफलता का एक प्रधान कारण यह रहा कि उनके पास अपने-अपने नाटककार थे और नाटककारों तथा निर्देशकों के सहयोग से वे ऐसे नाटकों को प्रस्तुत करने में समर्थ होते थे जैसे वे चाहते थे । इसलिए रंगमंच की स्थापना करने के साथ-साथ इस बात की आवश्यकता है कि अभिनेताओं और नाटककारों के सम्बन्ध निकट के हों, वे एक-दूसरे को समझ-समझा सकें और सफलतापूर्वक अभिनय के लिए नाटकों की रचना हो सके ।

इससे सम्बद्ध समस्या यह है कि नाटक रंगमंच के लिए होना चाहिए या रंगमंच नाटक के लिए होना चाहिए । प्रसाद जी के नाटकों को लेकर यह समस्या तीव्र रूप से उठ खड़ी हुई थी और आज भी इस पर विवाद हो रहा है । किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि नाटककार पर रंगमंच का पूर्ण दृढ़ प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता । यह अनिवार्य रूप से नहीं कहा जा सकता कि नाटककार अमुक रंगमंच के अनुरूप होना चाहिए । ऐसा करने से नाट्य कला के ह्रास की आशंका है । लेकिन साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रंगमंच की अविकसित आज की अवस्था में नाटककारों पर एक विशेष दायित्व है और वह यह कि वे ऐसे नाटकों की रचना करें, जिनका अभिनय अधिक कष्ट-साध्य न हो । वस्तुतः यह समस्या इससे पूर्व विवेचित समस्या से संबद्ध है । जब एक बार नाटककार और अभिनेताओं एवं निर्देशकों के बीच एक सहज-स्वस्थ सम्बन्ध की स्थापना हो जायगी, तो इस समस्या का समाधान स्वयमेव हो जायगा ।

अब एक बात की चर्चा करना और आवश्यक है, वह यह कि आज जब कि हम अपने समाज को भौतिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उन्नत करना चाहते हैं, तो इसमें रंगमंच को विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य करना है । संभवतः इस तथ्य की सम्यक अनुभूति अभी नहीं की गयी । थोड़ा-बहुत ध्यान तो इस ओर दिया जा रहा है – जैसे गाँव आदि में सुधार आदि की भावना भरने के लिए छोटे-छोटे नाटक सरकारी विभागों द्वारा दिखाये जाते हैं, किन्तु इसके लिए विशेष प्रयास की आवश्यकता है । इसमें हमें एक ही स्तर के रंगमंचों की अपेक्षा नहीं होगी, वरन् विविध वर्ग, परिस्थिति एवं विषय-वस्तु के अनुसार विविध

स्तर के रंगमंचों का होना आवश्यक है। तभी भारतीय जन-जागरण में इस साधन का शक्तिशाली उपयोग किया जा सकता है।

हमें प्रधानतया दो प्रकार के रंगमंचों की आवश्यकता है—एक शहराती विकसित रंगमंच की और दूसरे देहाती रंगमंच की।

शहराती रंगमंच

अब पहले मैं जिन्हें विकसित रंगमंच कहता हूँ, उनके सम्बन्ध में कुछ कहूँगा।

(१) **घूमनेवाला (रिवाल्विग) रंगमंच**—इस रंगमंच में बड़े-बड़े दृश्यों की एक साथ तैयारी हो सकेगी और एक के बाद दूसरे बड़े दृश्य का प्रदर्शन बिजली की शक्ति द्वारा रंगमंच के प्लेटफार्म को घुमाकर किया जायगा। अभी दो बड़े दृश्यों के बीच में एक या एक से अधिक छोटे दृश्यों की व्यवस्था आवश्यक होती है, जिससे छोटे दृश्यों के अभिनय होते समय दूसरे बड़े दृश्य की तैयारी नेपथ्य में हो सके। घूमनेवाले स्टेज में यह आवश्यकता न रहेगी और इन छोटे दृश्यों के आयोजन में कभी-कभी जो शिथिलता या अस्वाभाविकता आ जाती है, उससे हम बच जायेंगे। साथ ही दृश्यों की तैयारी में जो समय लगता है तथा जल्दी-जल्दी करने के कारण यह तैयारी जो अनेक बार अधूरी ही रह जाती है और पूरी नहीं हो पाती, यह भी न होगा।

(२) **ध्वनि विस्तारक यंत्र**—अभी पात्रों के संभाषण और संगीत दूर बैठने वालों को अच्छी तरह नहीं सुन पड़ते। फिर जो बात धीरे-धीरे बोली जानी चाहिए वह पात्रों को चिल्ला-चिल्लाकर कहनी पड़ती है। यदि कहीं ये यंत्र लगाये भी जाते हैं, तो बड़े भद्दे तरीके से। ये यन्त्र रंगमंच पर इस प्रकार लगेंगे कि दिखेंगे भी नहीं और उनके द्वारा आवाज उचित और स्वाभाविक परिमाण में हर प्रेक्षक के पास पहुँच जायगी।

(३) **रोशनी की ठीक व्यवस्था**—अभी ऊपर टँगी हुई तथा फुट लाइट्स से ऐसा जान पड़ता है कि सारा नाटक रात को बिजली की रोशनी के प्रकाश में हो रहा है। ऊषा और संध्या की सुनहली और लाल, चाँदनी रात की नीलिमा लिये हुए अत्यन्त श्वेत, दोपहर की धूप, बिजली की चमक आदि भिन्न-

भिन्न प्रकार की रोशनी की व्यवस्था से नाटक के समयों के अन्तर का बोध होगा; इतना ही नहीं, प्रदर्शन में सौन्दर्य की अभिवृद्धि होगी ।

(४) **दो यवनिकाएँ (वृहत और लघु)**—वृहत यवनिका का पतन होगा अंक समाप्ति पर तथा लघु यवनिका का पतन होगा एक ही अंक में यदि अनेक दृश्य हैं तो प्रत्येक दृश्य की समाप्ति पर । इससे दृश्य और अंक की समाप्ति का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा । साथ ही, उठने और गिरनेवाले परदों पर जो प्रदर्शन होता है, उसमें उन परदों के उठने के पहले पात्रों का प्रस्थान तथा गिरने पर पात्रों का प्रवेश अनिवार्य होता है; साथ ही उन्हें खड़े-खड़े संभाषण करना पड़ता है; इससे अनेक बार इन पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान बड़ा अस्वाभाविक जान पड़ता है और कई बार ऐसा आभास होता है, मानों उस भाषण के लिए ही उन पात्रों को रंगमंच पर जबरदस्ती लाया गया हो, यह सारी अस्वाभाविकता समाप्त हो जायगी ।

(५) **उपक्रम और उपसंहार (पटों की योजना)**—उपक्रम और उपसंहार के विषय में मैंने अपने पूर्व भाषणों में कुछ विवेचन किया है । एकांकी और पूरे नाटक दोनों में, किसी-किसी में उपक्रम और उपसंहार दोनों और किसी-किसी में एक को आवश्यक मानता हूँ । एकांकी में कुछ स्थलों पर यह उपयोग मेरे मत से अनिवार्य है । जो एकांकी रंगमंच पर खेले जावें, उनमें दर्शकों को उपक्रम या उपसंहार की जानकारी हो जाय; इसलिए यवनिका उठते ही एक दूसरे परदे पर उपक्रम या उपसंहार का लिख देना आवश्यक है । यवनिका के उठने के बाद यह परदा भी उठा दिया जाय । रेडियो में उपक्रम या उपसंहार की सूचना शब्दों में दी जा सकती है । आरम्भ में यह प्रथा कुछ विलक्षण-सी जान पड़ेगी, परन्तु धीरे-धीरे आँखें और कान इसके लिए अभ्यस्त हो जायेंगे । जिस प्रकार यवनिका गिरते समय हम जान जाते हैं कि नाटक का एक अंक समाप्त हो रहा है और दूसरे अंक में संभव है, हम कुछ महीनों या कुछ वर्षों के बाद की घटना देखें, उसी प्रकार उपक्रम या उपसंहार पढ़ते या सुनते ही हमें यह मालूम हो जायगा कि मुख्य घटना और उसके बीच कुछ काल चाहे वह दिन, महीने या वर्ष हों, बीतनेवाला है या बीत गया है । जिन नाटकों के सिनेमा फिल्म बनें उनमें तो उपक्रम और उपसंहार सहज में लिखा जा सकता है, क्योंकि फिल्मों में तो अक्षरों मे लिखी हुई चीज को पढ़ने के लिए हमारी आँखें अभ्यस्त हो गयी हैं ।

एक सफेद चादर—नाटक होते हुए कभी-कभी कुछ दृश्य सिनेमा के फिल्मों द्वारा भी दिखाया जाना मैं आवश्यक समझता हूँ। नाटक और सिनेमा का कहीं-कहीं सुन्दर मिश्रण हो सकता है, जैसे युद्ध, चुनाव, मेले, जुलूस इत्यादि के दृश्य यदि नाटकों में भी सिनेमा के द्वारा दिखाये जावें, तो कहीं अधिक स्वाभाविक दीख पड़ेंगे और उनसे मन पर प्रभाव भी अधिक पड़ेगा। युद्ध की सेनाएँ और लड़ाई, चुनाव, मेले, जुलूस आदि की सवारियाँ और चहल-पहल रंगभूमि में उतनी अच्छी तरह नहीं दिखायी जा सकती जितनी सिनेमा में। यदि कुछ पात्रों के मुख से इनका वर्णन कराया जाय, जो बहुधा किया भी जाता है, तो मन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता; अतः नाटक के साथ भी सिनेमा मशीन की योजना एवं ऐसे अवसरों पर नाटक के बीच-बीच में परदे के स्थान पर सफेद चादर गिरा पाँच-पाँच दस-दस मिनटों तक ये दृश्य फिल्मों द्वारा दिखाने का प्रबन्ध अवश्य ही सफल हो सकता है।

प्रधानतया उपर्युक्त बातों का जिस रंगमंच में समावेश होगा तथा और भी अनेक छोटी-छोटी बातें जिस रंगमंच की उन्नति के लिए जोड़ी जायेंगी, ऐसे रंगमंचों की मैं भारत के लिए आवश्यकता मानता हूँ।

घूमनेवाले तीन रंगमंच, जहाँ तक मुझे मालूम है, केवल कलकत्ते नगर में हैं, भारत में अन्यत्र कहीं नहीं। परन्तु इन रंगमंचों में भी उपर्युक्त सब बातें नहीं हैं। जबलपुर में शहीद स्मारक भवन नामक एक सुन्दर इमारत बनायी गयी है। इस इमारत पर लगभग दस लाख रुपया व्यय हुआ है। आजकल इस इमारत में जबलपुर विश्वविद्यालय का कार्यालय है। शहीद स्मारक भवन का प्रबन्ध एक ट्रस्ट करता है। इस ट्रस्ट और जबलपुर विश्वविद्यालय द्वारा शहीद स्मारक भवन में एक ऐसा घूमनेवाला रंगमंच बनाया जा रहा है, जिसमें मेरी सभी उपर्युक्त मान्यताओं के अनुसार सामग्री रहे। इस मंच पर ट्रस्ट द्वारा लगभग तीस हजार रुपया व्यय किया जा रहा है।

आजकल कहीं-कहीं कालिदास आदि के प्राचीन संस्कृत नाटक भी अभिनीत होते हैं। दिल्ली में मैंने इन नाटकों का प्रदर्शन देखा है। यहाँ उज्जैन में कालिदास जयंती के अवसर पर इन नाटकों का सफल अभिनय हुआ है। संस्कृत भाषा को पूर्ण रूप से न समझने पर भी, इन नाटकों की महानता के

कारण हजारों की संख्या में जनता ने इन नाटकों को मंत्रमुग्ध-सा होकर देखा है। इन्हें हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। संस्कृत के प्रचार के लिए भी इससे हमें बड़ी सहायता मिलेगी, जिस पर हमारी संस्कृत का प्रचार बहुत दूर तक निर्भर है। इन रंगमंचों पर इनका बड़ा सफल अभिनय हो सकेगा।

देहाती रंगमंच

एक दूसरे प्रकार के रंगमंच की भी हमें आवश्यकता है, जो एकदम सादा हो और जिस मंच पर बिना किसी बड़ी भारी तैयारी के नाटक खेला जा सके। इस देश के ८० प्रतिशत व्यक्ति देहातों में रहते हैं। देहातों में नाटक खेलने के लिए जिसे अंग्रेजी में "ओपन एअर थियेटर" कहते हैं, इस प्रकार के रंगमंचों की आवश्यकता है, जिसमें परदे आदि का उपयोग हो न हो और यदि हो तो एक सफेद चादर का। ऐसे रंगमंच के लिए उपयुक्त नाटक रचना भी आवश्यक है। ऐसे नाटक चलते-फिरते रंगमंचों पर खेले जा सकते हैं। इन रंगमंचों पर भिन्न-भिन्न स्थानों के लोकनाट्य, लोकनृत्य आदि भी किए जाने चाहिए और उनको हर प्रकार का प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

बालकों का रंगमंच

आधुनिक विद्वानों का मत है कि मानव जीवन का निर्माण यथार्थ में तीन वर्ष और बारह वर्ष की अवस्था के बीच में ही हो जाता है। इस निर्माण में नाटक का बहुत बड़ा योग हो सकता है। इसके लिए हमारे देश में बालकों के रंगमंच की नितान्त आवश्यकता है।

कहा जाता है कि इस संसार का पहला बाल रंगमंच अमरीका में बना। सन् १८७१ ईस्वी में दस बालकों ने निर्णय किया कि उन्हें एक रंगमंच बनाना है। ये बच्चे न्यूयार्क नगर के एक गरीब से गरीब विभाग में रहते थे। परन्तु यदि निश्चय अडिग हो, तो कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, वह कार्य रूप में परिणत होकर रहता है। न्यूयार्क के इन गरीब बालकों के जोश ने इन्हें हर तरफ से सहयोग दिलाया और इन्होंने अपना रंगमंच बना ही डाला। इसके कुछ समय बाद रूस के ग्रैंड ड्यूक एलेक्सिस (Alexis) अमरीका आये और जब वे एक दिन उस मोहल्ले से जा रहे थे, जिसमें यह बाल रंगमंच था, तब उन्होंने कुछ बच्चों को इस रंगमंच पर गाते और नाचते देखा। वे इससे आकर्षित

हुए और इस प्रदर्शन को देखने लगे। इनके वहाँ बैठने से वहाँ भीड़ जमा हो गयी। इन्होंने इस रंगमंच को सहायता दी। इस मंच का नाम पहिले "सेलर" (Cellar) थियेटर था। ग्रेंड ड्यूक की सहायता से इसका नाम "ग्रेंड ड्यूक थियेटर" हो गया। इसके बाद अमरीका में बच्चों का रंगमंच शिक्षा का एक अंग माना जाने लगा है। अब यह रंगमंच केवल अव्यवसायी रंगमंच ही नहीं रह गया है, अमरीका में एक हजार के ऊपर व्यवसायी बाल रंगमंच भी स्थापित हो चुके हैं। मैंने स्वयं अपनी अमरीका यात्रा में इनमें से अनेक रंगमंचों को देखा है।

रूस में भी बालकों के रंगमंच स्थापित हुए हैं और वहाँ भी ये नयी पीढ़ी के निर्माण का एक बहुत बड़ा साधन माने जाते हैं।

इंगलैंड, फ्रांस और यूरोप के अन्य देशों में भी अब उनका आरम्भ हुआ है। हालैण्ड में तो एक "पक" (Puck) नामक संस्था ही इस कार्य के लिए स्थापित हुई है।

भारत में भी स्वतन्त्रता के बाद यह कार्य होने लगा है और यहाँ भी यह शिक्षा का ही एक अंग माना जाता है।

बालकों के रंगमंच के लिए निम्न सामग्री आवश्यक है—

(१) इन मंचों के लिये नाटक। इन नाटकों के लेखकों को बच्चों की मनोवैज्ञानिक स्थिति के ज्ञान की सबसे अधिक आवश्यकता है। बच्चों के लिए हर प्रकार की साहित्य रचना ही कठिन है, फिर नाटक रचना तो और कठिन। इन नाटकों में प्रधानता ऐसे संगीत और नृत्य की होनी चाहिए, जो एकदम सरल हो। इस नृत्य और संगीत में प्रधान ध्यान ध्वनि और ताल का रहना चाहिए; क्योंकि बच्चों के संगीत और नृत्य में इन्हीं दो चीजों का उन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है।

(२) यह रंगमंच एकदम सादा होना चाहिए, जिसमें परदों आदि की आवश्यकता ही न पड़े और अधिकतर इसे पाठशालाओं के साथ जोड़ देना चाहिए।

(३) केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, नगरनिगमों, नगरपालिकाओं, जिलाबोर्डों, जनपदों आदि को इन रंगमंचों के लिए यथेष्ट अनुदान देना चाहिए।

(४) इन रंगमंचों पर जो बच्चे-बच्चियाँ काम करें, उनको अभिनय की शिक्षा देने की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

दृश्य, पात्र और पात्रों की वेशभूषा

नाटककार का जितना सम्बन्ध रंगमंच से है, उतना ही नाटक के दृश्यों, उसके पात्रों और पात्रों से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों अर्थात् पात्रों की अवस्था, उनकी मुखाकृति, शरीर और उनकी वेशभूषा से है। ये सब बातें देश, काल और पात्र के अनुसार ही होनी चाहिए। पश्चिम के नाटककार इस ओर बराबर ध्यान रखते हैं और वे इन बातों का अपने नाटकों में सांगोपांग वर्णन देते हैं। पारसी कम्पनियों के रामायण और महाभारत नाटकों को जिन्होंने देखा है एवं उनके दृश्य और उनमें राम और कृष्ण के जिन्होंने दर्शन किये हैं वे जानते होंगे कि ये दृश्य और पात्र कम से कम हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित दृश्य और पात्रों के समान नहीं रहते थे। यही बात अनेक ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। जिस काल की कथा पर नाटक लिखा जावे, उस काल के दृश्यों और वेशभूषा पर, एवं जिस प्रकार के पात्र हों, उन पात्रों पर, विचार कर नाटककार को अपने नाटकों में उनके दृश्यों, पात्रों और वेशभूषा का पूरा वर्णन कर देना आवश्यक है, जिससे अभिनय के समय भी नाटक का अभिनय भ्रष्ट न हो और पढ़ते समय भी चित्र के समान ये सारी बातें नेत्रों के सम्मुख चित्रित हो जावें।

अभिनय

अभिनय नाटक का कितना आवश्यक अंग है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अच्छे से अच्छा नाटक, खेलते समय अभिनय बुरा होने से सर्वथा भ्रष्ट हो सकता है और कभी-कभी बुरे से बुरा नाटक अच्छा अभिनय होने से देखने के समय बहुत अच्छा दिखायी देता है। जो नाटक सिनेमा में परिणत किये जाते हैं उनमें तो अभिनय ही सब कुछ होता है। अभिनय का अधिकतर भार नटों की योग्यता पर निर्भर है, इसमें सन्देह नहीं. परन्तु नाटककार भी नाटक में इस सम्बन्ध में संकेत कर सकता है और करना आवश्यक भी है, क्योंकि जिस मस्तिष्क से वस्तु, पात्रों और रस की सृष्टि हुई है, वही यदि अभिनय के लिए

संकेत कर देवे, तो वह और भी उपयुक्त होगा।

अभिनय का अपना एक पूरा शास्त्र ही है। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में अभिनय पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला है।

अभिनय के प्रधान रूप से चार भाग हैं—(१) आंगिक, (२) वाचिक, (३) सात्विक और (४) आहार्य।

आंगिक अभिनय में मस्तक, भृकुटि, नेत्र, स्कंध, भुजाएँ, हस्त, अंगुलियाँ, कटि और पैरों का संचालन प्रधान रहता है। यह अंग विक्षेप आंगिक अभिनय के अन्तर्गत आता है।

वाचिक अभिनय का कण्ठ, जिह्वा और ओष्ठों से सम्बन्ध है। गद्य और पद्य में जो कुछ भी कहा जाता है और उस कथन में वाणी का जो उतार-चढ़ाव, मृदुता, कर्कशता और कठोरता आदि रहती है, वह सब वाचिक अभिनय के अन्तर्गत है।

अश्रु, कम्प, स्वेद आदि का प्रदर्शन सात्विक अभिनय में है।

अभिनेता जिस रूप में रंगमंच पर उपस्थित होता है, उस रूप के उपयुक्त उसकी ठीक वेशभूषा और उसी पात्र के अनुरूप उसकी गंभीर, चिन्ताशील, शान्त, रोषमय, चंचल तथा हास्य वाली मुद्रा आदि आहार्य अभिनय का अंग है।

दक्षिण के अभिनय में मुद्रा की एक विशिष्ट भाषा ही निर्मित हो गयी है। इस मुद्रा-भाषा को दक्षिण के विद्वानों ने तीन विभागों में विभक्त किया है।

(१) **प्राकृतिक मुद्राएं**—अभिनेता जब किसी भावना में पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाता है, तब बिना किसी कथन के उसकी मुख-मुद्रा से जिस भाव का प्रदर्शन होता है, वे प्राकृतिक मुद्राएँ हैं।

(२) **अनुकरणात्मक मुद्राएँ**—किसी अन्य प्राणी की चेष्टाएँ, जैसे गज

अथवा हंस की चाल के सदृश चाल, मृग या खंजन के सदृश चितवन, जिस प्रकार कुत्ता दुम दबाकर भागता है, उस प्रकार का पलायन, आदि अनुकरणात्मक मुद्राएँ हैं।

(३) वे मुद्राएँ जो तंत्र अथवा मंत्र के माध्यम द्वारा आह्वान, प्रतिष्ठा, पूजा, विसर्जन आदि के संकेतों की परिचायक होती हैं।

टाकी सिनेमा के ईजाद होने के पहले मूवी सिनेमा के समय मुद्राओं वाले इस मूक अभिनय का बहुत बड़ा स्थान हो गया था। पूरा का पूरा कथानक मूक अभिनय के द्वारा प्रस्तुत कर दिया जाता था। उस काल के सिनेमा के अनेक बड़े-बड़े अभिनेता तो इस मूक अभिनय को वाचावाले अभिनय से कहीं श्रेष्ठ मानते थे। अमरीका के प्रसिद्ध सिनेमा अभिनेता चार्ली चैप्लिन तो बड़ी कठिनाई से टाकी में आये। टाकी के निकलने के बहुत दिनों बाद तक भी उन्होंने टाकी में आना स्वीकार नहीं किया। अभी भी कई लोगों का मत है कि मूवी का वाचा रहित मूक अभिनय टाकी अभिनय से कहीं श्रेष्ठ था।

रंगमंच पर वाचा अभिनय के साथ ही मूक अभिनय के अनेक स्थल अत्यन्त प्रभावोत्पादक होते हैं।

जिन भावों से अभिनय को प्रेरणा मिलती है, उन्हें हमारे विद्वानों ने दो विभागों में बाँटा है—(१) स्थायी भाव और (२) व्यभिचारी भाव।

स्थायी भावों के आठ भेद होते हैं।

(१) रति—यह भेद इच्छा से सम्बन्ध रखता है। देखने, सुनने या चिंतन से इच्छा की उत्पत्ति होती है।

(२) हास—इसमें विनोद का पुट होता है। परन्तु यह व्यंग के तिरस्कारपूर्ण हास से सम्बन्ध नहीं रखता।

(३) शोक—वियोग से इस भाव की उत्पत्ति होती है।

(४) क्रोध—किसी के दुर्व्यवहार से उत्पन्न।

(५) उत्साह—उदारता और ओज से भरा हुआ भाव।

(६) **भय**—किसी प्रकार की अज्ञात आशंका।

(७) **जुगुप्सा**—यह भाव किसी वीभत्स वस्तु को देखने, सुनने या उसका चिन्तन करने से घृणा की उत्पत्ति के कारण होता है।

(८) **विस्मय**—किसी अद्‌भुत वस्तु के देखने अथवा किसी अद्‌भुत बात के सुनने से उत्पन्न होता है।

ये स्थायी भाव तीन तरह के होते हैं—विभाव, अनुभाव और सात्विक भाव। विभाव भावों की उस आरम्भिक अवस्था को कहते हैं जिसमें कोई विशिष्ट मानसिक या शारीरिक स्थिति उत्पन्न होती है। इस स्थिति की वाह्य अभिव्यक्ति को अनुभाव की संज्ञा दी गयी है। स्वतः उत्पन्न होनेवाली भावनाएँ, जैसे अश्रुमोचन, रोमांच, स्वेद आदि सात्विक भाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भाव तेंतीस कहे गये हैं। इनकी संख्या के विषय में विद्वानों का एक मत नहीं है। परन्तु भरत मुनि ने इनकी संख्या तेंतीस ही मानी है। ये हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विरोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मारण, त्रास, वितर्क इत्यादि। इनके उप-विभाग भी हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनय प्रधानतया भावों पर ही अवलंबित रहता है। रंगमंच कितना ही समृद्ध क्यों न हो, उत्तम और स्वाभाविक अभिनय के बिना वह सफल नहीं हो सकता। देह में जो स्थान प्राण का है वही रंगमंच पर अभिनय का है।

सन्दर्भ-सूची

(अकारादि क्रम में)

पृष्ठ संख्या

अ

अगस्तियर ८१
'अग्निपुराण' ६८
अजितकुमार घोष ११३
अतीन्द्र चौधरी ११३
अतुलचन्द्र बरुआ ११५
अतुलचन्द्र हज़ारिका ६८
'अथर्व वेद' १०२
अ. न. देशपांडे ११५
अनन्तराम पाण्डे ५५
'अनारकली' ६०
'अन्याय देशीरूपक' ४६
अ. पे. विश्वनाथन् ८४
अफलातून १०, १०४
अब्दुस्सलाम खुरशेद ११३
'अभिनय कला' ११६
'अभिनयम्' ११६
'अभिनव वेणी संहारम्' ७६
अभिनव गुप्त ६८
'अभिज्ञान शाकुन्तल' ३२, ४६, ५६, ५६, ७१, ७८, ८३, ८५, ८६, ८७, ८८
अमरिकसिंह ७८

पृष्ठ संख्या

अमृत केशव नायक ७६
अमृतलाल बसु ६४
अयत्तियम ८१
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ५८
अरस्तू १०, २३, २४, २५, २८, ३०, ३१, ६६, ६८, ६६, १०४, १०६
अरविंद ७
अरिस्तोफनेस ७५
अरुणाचल कविरायर ८२
'अरुणोदय' ६७
अ. रु. रामनाथन ८४
'अलेक्जेण्ड्रिया कम्पनी' १४१
'अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी' १४१, १४५
अली मोहम्मद ७६
अवधूत महादेव जोशी ११५
'असवमुखी नाडगम्' ८२
अश्वघोष ४६
अश्विनीकुमार ७०
'अश्रुमति' ७६
अहमद सुजा ६०
अत्रे ७३

पृष्ठ संख्या

आ

आगा मोहम्मद 'हश्र' काश्मीरी १४१
आगा हश्र काश्मीरी ६०, ७९
'आधुनिक हिन्दी नाटक' १११
आनन्दचन्द्र बरुआ ६८
'आनन्द सुन्दरी' ५०
'आन्ध्र नाटक रंगमु' ११९
आबा साहेब आचरेकर ७३
आबिदअली 'आबिद' ६०
आबिद हुसैन ६०
'आरकापोर' १४८
आर. बी. दवे ७५
आर. बी. एम. जी. रामाराव ८९
आर. यू. दवे ७६
'आसामीज ड्रामा' ११५

इ

'इन्दर सभा' ६०
इब्सन २९, ३०, ३४, ३७, ७७, ९१, १०७, ११०
इम्तियाज अली 'ताज' ६०
'इम्पीरियल कम्पनी' १४१
'इरण्य संहार नाडगम्' ८२
इस्ताक हुसैन कुरेशी ६०

ई

ई. वी. कृष्णपिल्लै ८५
ईश्वरचन्द्र नन्दा ७८

उ

'उड़िया थियेटर पार्टी' १४९
'उड़िया नाट्य कला' ११४
'उड़िया लिटरेचर' ११४
'उत्तर रामचरित' ५०, ५६, ८५, ८६

पृष्ठ संख्या

उदयशंकर भट्ट ५८
'उदयभानु' ७६
उदितनारायण वकील ५६
'उपनिषद्' ४३
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ५६
उमाशंकर जोशी ७७
'उर्दू ड्रामा' ११३
'उर्दू ड्रामा और स्टेज' ११३
'उर्दू लिटरेचर' ११३
'उल्लास राघव' ७४

ए

ए. एन. कृष्णराव ८०
ए. एस. राप्पोर्त ८७
'एकांकी स्वरूप अने साहित्य' ११७
ए. के. रामकृष्णन् पिल्लै ७५
एच. के. रंगनाथन् ११८
एडिसन ५६
ए. निकोल ३२
एन. एस. कृष्णन रामचन्द्रन ८४
एन. बी. ठक्कर ७५
ए. माधवैया ८३
'एन इन्ट्रोडक्शन टु ड्रैमेटिक थियोरी' ३६
एन. वेंकटराव ११९
एम. आर. नीलकंठ ७४
एम. आर. श्रीनिवासमूर्ति ८७
एम. गोविन्दन ८५
एम. गोविन्द पाई ८६
एम. श्रीनिवास आयंगार ८०
एम.पी. पेलियास्वामी थूरन ११७
एस. एन. साहू ११४
एसचीलस ८९, १२१
एस. के. भुइयाँ ११७

पृष्ठ संख्या	
एस. दास	११४
एस. डी. सुन्दरम	८४
एस. नारायणस्वामी अय्यर	८३
एस. राजाशास्त्री	८३
एस. राघवाचार्य	८३
एस. रामास्वामी आयंगार	८३
ऐ	
'ऐज यू लाइक इट'	५६
ऐश्वर्य नारायण सिंह	१४३
ओ	
'ओपन एयर थियेटर'	१४८
'ओयरून्न यवनिका'	११८
'ओरिजिनल थियेट्रिकल कम्पनी'	१४१
'ओल्ड थियेटर कम्पनी'	१४१
अं	
'अंकिया नाट'	६६, ६७
'अंजामे बदी'	१४४
क	
कर्तारसिंह दुग्गल	७८
कनकामर	५०
'कन्दर नाडगम्'	७६
कन्हैयालाल मुन्शी	७६
कपिलेन्द्र देव	६६
'कर्पूर मंजरी'	५०, ५४
कमलानन्द भट्टाचार्य	६८
कम्बदासन्	८४
'कलकत्ता थियेटर'	१४५
'कला वियल'	१०४
'कलाकार'	१४३
कविपुत्र	४६
काण्ट	१०, १०७

पृष्ठ संख्या	
कार्तिकप्रसाद खत्री	५५
'कात्तवराय नाडगम्'	८२
कात्यायन	६८
'कामदत्ता'	१२१
कामेश्वर राव	८६
'कालचक्र'	५४
'क्लाइव वैल'	११
कालिदास	३२, ४६, ५०, ७१, ७८, ८५, ८८, १०३, १३३, १३८, १४१
'कानियार कीर्तन'	६७
'कॉमेडी ऑफ एरर्स'	५६, ७१, ७५
कालिन्दीचरण पाणिग्रही	७१
कालीचरण पट्टनायक	७१, १४६
'कालीदमन'	६६
कावले	७३
'काव्य शास्त्र'	२२
कावसजी खटाऊजी	१४१
कावसजी पालनजी	१४५
'काशी नागरी नाटक मण्डली'	१४४
काशिनाथ खत्री	५५
काशिविश्वनाद मुदिलियार	८२
'किंग लियर'	६०, ७८
किरण राय	६५
किन्लाक फारवस	७५
किर्लोस्कर	७२
'किस्साखानी'	७७
किशोरीलाल गोस्वामी	५५
'कीचक वध'	७२
'कीर्तनिया'	५२

पृष्ठ संख्या

कीर्तिनाथ बारदोलाई ६८
(डा.) कीथ ४५
'क्रीड़ा रसातल' १२१
'कुंगपोष' ७९
कुटुम्बाराव ८९
'कुत्तु' ५२
कुमार पिल्लै ८५
'कुमार सम्भव' १६२
कुमुदचन्द्र बरुआ ६८
'कुरल्ल कुरवंजी' ८२
'कुलीन कुल सर्वस्व' ६३
'कुशलव नाडगम्' ८२
के. टी. मुहम्मद ८५
केनिक्करा पद्मनाभ पिल्लै ८५
के. बी. पुटप्पा ८७
के. एस. कारन्त ८७
के. रामस्वामी आयंगार ८३
केरूर वासुदेवाचार्य ८३
के. वेंकटराम अय्यर ८३
'केसरी' ७२
के. सी. मिश्र ११४
के. स्वामीनाथन ८४
केशवदास ५४
केशवदासन् ८५
केशवराम भट्ट ५६
'कैरो' ५६
'कैलिरैवतक' १२१
कोलाचलम श्रीनिवासराव ८८
कोहल ९७
कौटिल्य ४९
'कौबेर रम्भाभिसार नाटक' ४८

पृष्ठ संख्या

'कंचनमाला' ७०
'कंचिकावेरी' ६९
'कंस वध' ४४, ४५
कृपा सागर ७८
'कृष्णार्जुन युद्ध' ५८
कृष्णनाथ बारदोलाई ६८
कृष्णमूर्ति ८४
कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर ७२
कृष्णराव ८९
'कृष्ण सुदामा' १४१
'कृशाश्व' १८, ४७, ९७

ख

खरे शास्त्री ७२
'खूने नाहक' ६०
'खेती' ६०
खंग बहादुर मल्ल ५५

ग

गर्ग ९८
गड़करी ७३
गणपतराव भट्ट ७६
गणपतराव जोशी ७१
'गणिका रूपक' ४९
गणेशप्रसाद द्विवेदी ५८
'गरवा' ५२
गणेशलाल चौधरी ६८
गांधीजी ११, २३, ७६
'ग्राम्य विभ्राट' ६४
गाल्स वर्दी ७७, ९१
गिरधरदास ५४
गिरिशंकर ६५
गिरीशचन्द्र घोष ६४, ११४
गिरीश घोष ६१

	पृष्ठ संख्या
'गीत गोविन्द'	६१
'गुजराती नाटक मण्डली'	१५१
'गुजराती नाट्य'	७७
गुणकन्द्र	११०
गुणचन्द्र	७४
गुणाभिराय	६८
गुरुजाड अप्पाराव	८६
गुरुदयालसिंह खोसला	७८
'गुरुबिल्ला कल्लरी'	८५
गुलाबदास ब्रोकर	७७
गुलामनबी दिलसोज	७६
गेटे	६०
ग्रेंड ड्यूक	१६४
'ग्रेंड ड्यूक थियेटर'	१६४
ग्रेंड ड्यूक एलेक्सिस	१६३
गेय नाटक	७२
गोदावरीश	७०
गोपालराम गहमरी	५६
गोपालचन्द्र जोशी	७०
गोपाल कृष्ण गोखले	७२
गोपाल गणेश आगरकर	७२
'गोपीचन्द'	६०
गो. ब. बापट	११६
'गोरस विजय'	५४
गोरा शास्त्री	८६
गोलोकनाथ दास	६३
गोल्डस्मिथ	८६
गोल्लपुडी श्रीराम शास्त्री	११६
गोविन्द	५५
गोविन्दचन्द्र सूर	७०
गोविन्द वल्लभ पन्त	५८
गोविन्दवल्लाल देवल	७२
गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव	११२
गोस्वामी	५६
गंगाधर गाडगिल	७३
'गंगावतरण'	६०
घ	
घनसुखलाल मेहता	७७
घनश्याम मित्र	७०
घण्टसिगन	८७
'घर संसार'	७०
च	
'चक्कीकन कर्म'	११८
चण्डीदास	६२, १४५
चन्द्रकान्त फूखन	६८
'चन्द्रगुप्त'	३६, ६४
चन्द्रगुप्त विद्यालंकार	५८
चन्द्रधर बरुआ	६८
चन्द्रप्रकाशसिंह	११२
'चन्द्रलेखा'	५०
चन्द्रवदन मेहता	७६, ११७
'चन्द्रावली'	५४
चरणसिंह	७८
'चाँद सौदागर का झगड़ा'	६२
चार्ल्स फाब्री	६८, १४८
चार्ली चैप्लिन	१६७
चिन्तामणि नाटक समाज	१५५
चिरंजीत	५८
चिलकमति लक्ष्मी नरसिंहम्	८६
चित्रकवि पेद्दण	११६
'चित्रयज्ञ'	६२
'चित्रांगदा'	५६

पृष्ठ संख्या

चुन्नीलाल मड़िया ७७, ११७
चैखब १५, ६१
चैतन्य महाप्रभु ६२
'चैतन्य लीला' ६४, १४६
चौलनरेश राजराजेश्वर ८०

छ

छउ ५२, ६६

ज

जगदीश दलवी ७३
जगदीशचन्द्र माथुर ५८
जगनमित्र नाटक समाज १५५
जगन्नाथ (पंडितराज) १०
'जगन्नाथ वल्लभ' ६६
जनमंचि ८६
'जयकुमारी विजय' ७५
जयदेव ४६, ६१
जयनाथ नलिन ५८, ११२
जयन्ती दयाल ७७
जयवंत ठाकर ७७, ११७
जयशंकर 'सुन्दरी' ७७, १५१, १५२
जयशंकर प्रसाद ५६, ५७, ११३, १५६
'जहर' ७०
'जहरी सांप' ७६
जातक कथाएँ ४८
'जानकी मंगल' १४३
जॉन रस्किन १०
'जामदग्न नाडगम्' ८२
जात्रा ५२, ६१, ६६, ६७, ७१, १४५
'ज्यॉक्रिस्टोफिन' ११

पृष्ठ संख्या

ज्वालाप्रसाद मिश्र ५६
जी. जोसेफ ८३
जी. एल. रे ११४
जुबिली कम्पनी १४१
'जूलियस सीजर' ८८
जे. बी. महन्ती ११४
जे. माधवराम शर्मा ११६
जे. आर. आसली १३६
जे. एस. मैरियट १२२
जैनेन्द्रकिशोर ५५
जोगीमारा गुफा १३७
'जोडियो भाइयों' ७५
जोला १०७
ज्योतिप्रसाद अग्रवाल ६८

झ

झुमुरा ६६

ट

टी. के. एस. बन्धु ८५
टी. के. एस. सहोदर हल ८५
टी. चन्द्रशेखरन ११५
टी. नरसिंहाचारी ८७
टी. पी. कैलाशम् ८६
टी. एन. गोपीनाथन नायर ८५
टी. सम्बन्द मुदिलियार १५४
टी. सीतारामराव ११६
'टेमिंग आफ दि श्रू' ७१
'टोलुगट्टी' ८६

ड

'डम्बाचारि बिलासम्' ८२
'डाक्टर' ७५
डाह्या भाई ७६

	पृष्ठ संख्या
ड्राइडन	११
ड्यूमा	१०७
डोनेटस	१०६
त	
ताम्हनकर	७३
ताल्सताय	१४
तालिब एह्सान लखनवी	६०
तिरुकुन्दरासय्या कविरायर	८२
तिरुपति वेंकटेश्वर	८६
'तोलकाप्पियम'	८०, १०४
तोलकाप्पियर	८०, १०४
थ	
थियोडोर ब्लाख	१३६, १३७, १३८
थीबो	१४१
'थियेटर यूनिट बुलेटिन'	१४८
द	
दत्तिल	६८
दलपतराय	७५
द. वि. मिरजकर	११६
दवे	७६
दशरथ ओझा	११२
'दशरूप'	७४
'दशरूपक'	२४, ६६, १००, १०१, १०६
'दशावतारी खेल'	७१, १४६
'दक्षिण देशमुले नाट्य मुलु'	११६
दान्ते	१०६
दामोदर शास्त्री	५५
'दासकाठिया'	६६
'दि कर्नाटक थियेटर'	११८
दिगिन बेनर्जी	६५
'दि डिस्गाइस'	६३, १४६
दिनेशचन्द्र सेन	११३
दिनेशनारायण उपाध्याय	१११
दियोमिदेस	१०६
द्विजभूषण	६६
द्विजेन्द्रलाल राय	३६, ६१, ६४, ६५, ८६, ११४, १४७
द्विजेन्द्र बंद्योपाध्याय	११३
दीनबन्धु मित्र	६३, ६४
दीना गांधी	७७
'दीवार'	६१
'दुर्गादास'	५६, ६५, १४७
दुर्गाप्रसाद दत्त मजुमदार	६८
देव (महाकवि)	५४
देवकीनन्दन त्रिपाठी	५५
देवीचन्द ताल्लुकेदार	६८
'देवमाया प्रपंच नाटक'	५४
देवुलपल्ली कृष्ण शास्त्री	८६
'देशदशा'	५६
दैत्यारि ठाकुर	६६
'दंडनाट'	५२, ६६
'दंडनाट्य'	११४
दंतिल	६७, ६८
दंतिलाचार्य	६८
'दक्षयज्ञ'	१४६
ध	
धकल	५२
धनिक	६६, ६७
धनंजय	७४, ६७, ६८ ६६, १००, १०२, १०६

	पृष्ठ संख्या
'धनंजय विजय'	५४
धनपाल	५२
धर्मवरम् कृष्णमाचार्य	८८
धर्मवीर भारती	५८
धाहिले	५२
न	
नक्कीरा	१०४
नकुलचन्द्र भुइयन	६८
नगेन्द्र	१११
'नट्टक लक्षण रत्नकोष'	१००
'नटन'	११६
नटराज रामकृष्ण	११६
'नर्त्तन बाला'	११६
'नन्दक राज्यम्'	८८
नन्दकुमार पाठक	११७
नन्दिकेश्वर	६८
नन्दु खोटे	११६
नन्दी मल्लन	८७
नन्दलाल कौल	७६
'नमाज'	५६
नर्मदाशंकर	७५
'नरकासुर विजय व्यायोगम्'	८८
नरसिंह चिंतामणि केलकर	७३
'नल दमयन्ती'	६७, ७६
नवलराय	७५
नर्वसिंह	५६
'नवान्न'	६५
'नवीन नाटक दर्शनम्'	११८
'नहुश'	५४
नागानन्द	५०
नागरी नाट्य कला प्रवर्त्तन मंडली	१४४

	पृष्ठ संख्या
'नाचघर'	१४८
'नाटक'	११०, १४१
'नाटक करीये'	११७
'नाटक कसें बसवावें'	११६
'नाटकेर कथा'	११३
'नाटक प्रवेशिका'	११८
'नाटक भजवतां'	११७
'नाटक भजवतां पहेला'	११७
'नाटक आणि नाटककार'	११६
'नाटक उत्तेजक मण्डल'	१५१
'नाटक ओ नाटकीयता'	११३
'नाटक विचार'	११४
'नाटक लेखन रहस्य'	११६
'नाटक शास्त्र आणि तंत्र'	११६
'नाट्य'	१०१
'नाट्य कसें पहावें'	११६
'नाट्य कला दर्शन'	११०
'नाट्य कला एवं साहित्य की रूपरेखाएँ'	१११
'नाट्य कला प्रवेश'	११६
'नाट्य तन्त्र'	११६
'नाट्य कला मीमांसा'	११२
'नाट्य दर्शन'	११६
'नाट्य दर्पण'	७४, १०१
'नाट्य निर्णय'	११०
'नाट्य परामर्श'	११६
'नाट्य फल'	११६
'नाट्य फलम्'	११६
'नाट्य मन्वन्तर'	१५०
'नाट्य मीमांसा'	११०
'नाट्याम्बुजमु'	११६

पृष्ठ संख्या

'नाट्यालोचन' २४
'नाट्य रस' ११७
'नाट्य विषयक व्यापक विचार' ११६
'नाट्य विषयक सुशिक्षित चर्चा' ११६
'नाट्य वेदमु' ११६
नाट्य शास्त्र' १८, ६७, ६८, ६६, १००, १०२, १०६, ११०, ११६
'नाट्य शास्त्र संग्रह' ११५
'नाट्य साहित्येर आलोचना ओ नाटक विचार' ११३
'नाट्य शिक्षणना मूलतत्वों' ११७
'नाट्य सृष्टि' ११६
'नाट्य अम्बुज' ११६
'नाडग विलय' ११८
नाथूराम सुन्दरजी शुक्ल ११६
नादिम ७६
नाना भाई राणिना ७५
नानालाल ७६
नाना जोग ७३
नामदेव व्हटकर ११६
नारायणप्रसाद 'बेताब' ६०, १३६, १४१
नारायणसिंह ७८
ना. ला. मोरे ७३
निजा साहब ७६
निद्धिलाल मिश्र ५५
नीलकंठ शास्त्री ७५
नील दर्पण' ६३
'नील देवी' ५४

पृष्ठ संख्या

'नूरजहाँ' ५६, ६५
नूर मोहम्मद रोशन ७६
न्यू थियेटर १४६
न्यू अल्फ्रेड कम्पनी १४१
न्यू एम्पायर थियेटर १४७
नेशनल थियेटर १४५
नौटंकी ५२
'नौडी नाडगम्' ८१
नौपाल छोटराय ७०
'नृत्यरेखा' ११६

प

'पक' १६४
'पठान' ६१
पतंजलि ४५
'पतंजलि का महाभाष्य' ४७
प्रतापनारायण मिश्र ५५
प्रताप रुद्र ६६
पद्मनाथ गोहाई बरुआ ६८
पद्मानव देव ६६
पद्मराज ८६
'प्रफुल्ल' ६४
'प्रबोध चन्द्रोदयम्' ८७
प्रमदादास मित्र १४१
'परकलम' ७०
परमेश्वरन पिल्लै ११८
'परशुराम विजय' ६६
'पवाड़ा' ५२
पर्सीवाल वाइल्ड १२५
प्रसन्नकुमार टैगोर १४६
'प्रसन्न राघव' ६१
प्रसन्नलाल चौधरी ६८

	पृष्ठ संख्या
'पाखण्ड विडम्बना'	५४
'पाण्डिकेली विलासम्	८२
पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'	५६
पाणिनि	१८, ४७
	६६, ६७
'पाणिनि के सूत्र'	४७
पानगुण्टी लक्ष्मी नरसिंहराव	८६
'पारा पारे'	६५
'पाला'	६६
पार्वतीप्रसाद बरुआ	६८
'पाषाणी'	५६
प्रा. के. अत्रे	७३
प्रागजी डोसा	७७
प्राणजीवन पाठक	७७
पिरेंडिलो	८६
पिल्ललानारिपीन	८७
पिशेल	४४, ४५
'प्रिय दर्शिका'	५०
पी. जी. सूर्यनारायण शास्त्रीयर	८३
पी. डी. हरिशर्मा	११८
पीताम्बर दत्त	१११
पी. सम्बन्द मुदिलियार	८२, ८३
पी. सुन्दरम् पिल्लै	८३
पी. आर. सेन	११४
पी. एस. दोराईस्वामी आयंगार	८३
पुरनमसूर्य शास्त्री	११६
'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'	५२
'पुरुष चक्रवर्ती नाडगम्'	८२
पु. ल. देशपाण्डे	७३
पुष्कर चन्दावरकर	७७
पूर्णकान्त शर्मा	६८

	पृष्ठ संख्या
'पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य'	११२
प्रूतस	७५
प्रेमचन्द	५८
'प्ले हाउस'	१४२
पृथ्वी थियेटर्स	१४२, १४३
पृथ्वीराज कपूर	१३६, १४०
	१४२, १४५
फ	
फजल हक कुरेशी	६०
फाटक शास्त्री	७३
फीरोजदीन	७८
ब	
बख्तनसिंह	११२
'बज्मेफानी'	६०
बटुभाई उमरवाडिया	७७
'बम्बुर'	७६
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'	५५
'बनवीर विद्याविनोद'	५६
बर्नार्ड शा	३२, ३४
	७७, ६१
बलदेवप्रसाद मिश्र	११०
बलवन्त गार्गी	७८
बलवन्त पाण्डुरंग उर्फ अण्णा साहब किर्लोस्कर	७१
बलवन्तराव जोग	७१
'बाण दर्पदलन'	६६
'बादल की मृत्यु'	५८
बापूलाल	५१
बाबा बुद्धसिंह	७८
'बाबू'	६४
बालकृष्ण भट्ट	५६

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
बालकृष्ण विजय	७५	'बांगलार नाटक ओ नाट्यशाला'	११३
बाल गंधर्व	७३, १५०	'बांगला सामयिक साहित्य'	११३
बालमुकुन्द गुप्त	५६	'बांगलार साहित्येर कथा'	११३
'बालिबंध'	४४, ४७	'बांगला साहित्येर नवयुग'	११३
'बालिवधः'	१२१	'बांदा जश्न'	१५३
बिंबसार	४८	बृजलाल शास्त्री	७८
बी. के. गोकल	८७	**भ**	
बी. के. ठाकुर	७६	'भटनू भोपाल'	७५
बी. एस. कान्तिया	८७	भट्टनारायण	५०, ६१
बुद्धिप्रकाश	७५	'भत्ता विलास प्रवचन'	८१
ब्रुयलो	१०६	भरत (आचार्य)	१०, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, ४१, ४३, ४६, ४८, ५०, ६७, ६८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०५, १०६, ११५, १३३, १३५, १३८, १६६
ब्रूइक्स	९१		
'बेकार'	७०		
'बेधारी तलवार'	७५		
बेनुधर राजखोआ	६८		
'बेलगछिया थियेटर'	१४६		
'बैक टु मेथ्यूसुला'	३२		
बैकुंठनाथ पट्टनायक	७०		
'बैवत मदनिका'	१२१		
बोकिल	७३	भरतिदासन	८४
'बौद्ध और जैन साहित्य'	४८	'भरत विलासम'	८२
बंकिम बाबू	६१	'भरत शास्त्र'	१०१
'बंगनारी'	६५	भवभूति	१७, ५०, ५६, ८५, ८८, ८९, ९०, ९२, १३३
'बंग भाषाओ इतिहास'	११३		
'बंगीय नाट्य शालार इतिहास'	११३		
'बंगाल बंगालिनि'	६८	भवानन्दम पिल्लै	८३
'बांगलार नाटकार इतिवृत्ति'	११३	'भवाई'	७४
'बांगला नाटकेर उत्पत्ति ओ क्रमोविकास'	११३	'भात'	७०
		भारतचन्द्र	६२, १४६
'बांगला नाट्य विवर्धन'	११३	'भारत जननी'	५४
'बांगलार नाटकेर इतिहास'	११३	'भारत दुर्दशा'	५४, १४४

पृष्ठ संख्या

भारतेन्दु २१, २२, २३, ५३, ५४, ५५, ८३, १०६, ११०, १४१, १४३, १४४
भारत भूषण अग्रवाल ५८
'भारत रमणी' ५६
'भावना नाटक' ६५
'भाव प्रकाशन' १०१
भास ४६, ७८, ८६
'भाषण शास्त्र' २२
'भाई भाउज' ७०
'भीष्म' ६४
भुवनेश्वर प्रसाद ५८
भंजकिशोर पट्टनायक ७०
'भ्रान्तिकृत चमत्कार' ७१

म

मचामा पुष्कर भान ७६
'मर्चेन्ट आफ वेनिस' ५६, ७८
'मजलिस' ६६
'मणि मेकलई' १०४
मदन १४१
'मदन सुन्दर पुरादन सनादन विलासम्' ८२
'मदालसा ऋतुध्वज' ७६
मधुकर रांदेरिया ७७
मधुकृष्ण ८६
'मधुबंसरी' १५१
मधुसूदन दास ६६
'मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु' ११३
मन्मथ मोहन बसु ११३

पृष्ठ संख्या

'मनोन्मणीयम' ८३
मन्मथराय ६५
मनोरंजन भट्टाचार्य ६५
मनोरंजन दास ७०
मनमोहन बसु ५६
'मनसा' ६२
'मनुस्मृति' ४७
मम्मटाचार्य १०, ११
'मराठी नाट्य रचना (तंत्र आणि विकास)' ११५
'मराठी नाट्य सृष्टि' ११६
'मराठी रंगभूमि' ११६
'मराठी रंगभूमीचा इतिहास' ११६
'मराठी वाङ्मय' ११५
'मराठी साहित्याचा इतिहास' ११५
मल्लिनाथ १३८
मसूद हसन रिजवी आदिब ११३
महजूर मिरजा आरिफ ७६
महादेव गोविन्द रानडे ७२
महेन्द्र वर्मन ८०
'महाभारत' ४७, ४८, ६०, १४१, १६५
'महाभारत नाटक' १४२
'महावीर चरित' ५०
'महावीर चरित्र' ५६
महावीर प्रसाद द्विवेदी ११०
माखनलाल चतुर्वेदी ५८
'माडर्न आसामीज लिटरेचर' ११५
'माडर्न उड़िया लिटरेचर' ११५
मादंग चूड़ामणि ११८
माधव देव ६६

	पृष्ठ संख्या
माधवराव कृष्णाजी शिन्दे	११६
माधवराव जोशी	७३
मानसिंह	७०
मानसिंह	७८
मामा साहेब वरेरकर	७३, ११६, १५०
मायाधर	७०
'मालती माधव'	५०, ५६
मालविकाग्निमित्र	४९, ८३, ८५
मात्रगुप्त	६८
माइकिल मधुसूदन दत्त	५६, ६१, ६३
मिर्जा अदीब	६०
मिन्टो	६०
'मिनर्वा थियेटर'	१४७
मित्रदेव महन्त	६८
मु. करुणानिधि	८५
मुत्तुकुमार स्वामी	७६
मुद्राराक्षस	५०, ५४
मुनि जिनविजयजी	५२
मुरीदेशक	६०
मुहम्मद मियाँ रौनक बनारसी	६०
मुहम्मद मुजीब	६०
मुहम्मद हुसैन	६०
मुहैयुद्दीन हाजिनी	७९
मून लाइट थियेटर	१४७
मेकडानल्ड	४६
'मेकबेथ'	७५
'मेघदूत'	१३८
मेटरलिंक	६१
'मेवाड़ पतन'	६४
मैथिलीशरण गुप्त	५८
मोलेयर	५४, ७५, ९०, १०६
'मोहराज पराजय'	७४
मौनियर विलियम	६६
य	
'यजुर्वेद'	१०२
य. ना. टिपणीस	७३
'यम्बद जल'	७१
यशोधर मेहता	७७
यशपाल	७४
यशवन्त पण्ड्या	७७
'यक्षगण वैलाटा'	११८
यज्ञनारायणम्	८९
यू. जी. ओ नील	९१
यूरिपिडस	८९
येडेसरी गोविन्दन नायर	८५
र	
'रक्तमाटी'	७०
र. कृ. फड़के	११६
रजनीकांत राव	८९
'रत्नावली'	५०, ५६, ८६
'रघुवीर'	६४
'रम्भा मंजरी'	५०
रमाकांत चौधरी	६८
रमाशंकर शुक्ल	११०
रमेश कोठारी	११७
रवीन्द्रनाथ ठाकुर	६१, ६५, १४७
'रस'	५२
रसल लॉरेन्स	७
रसिकलाल पारिख	७७
रहीम	२३, ५३
'राई नो पर्वत'	७५
'राज तरंगिनी'	७८

	पृष्ठ संख्या
राज महेन्द्री	१५५
राज शेखर	४६
'राजराजेश्वर नाडगम्'	८१
'राजाभोज'	५२
राजा लक्ष्मणसिंह	५४, ५६
राधाकान्त सेदियाई	६८
राधाकृष्ण दास	५५
राधाचरण	५६
रामकन्द्र	१००
रामकुरूप	११८
रामकुमार वर्मा	५८
रामकृष्ण वर्मा	५६
रामचन्द्र मूर्ति	८६
रामचरण ठाकुर	६६
रामचन्द्र शुक्ल	५३
रामचन्द्र कविरायर	८२
रामचन्द्र	७३, ६६
रामचन्द्र मिश्र	७०
रामचरण महेन्द्र	१५५
'राम जानकी दर्शन'	७५
रामनारायण तर्करत्न	६३
रामनारायण त्रिपाठी	१४४
'राम नाडगम्'	८२
रामप्रसाद प्रे बक्शी	११७
रामबाबू सकसेना	११२
राममणिक्कम	८४
रामरंजन महन्ती	७०
'रामराज्य वियोग'	७१
'रामलीला'	५२, १४०
रामवृक्ष बेनीपुरी	५८
'रामनवमी'	६८

	पृष्ठ संख्या
रांगणेकर	७३
रामाशंकर राय	६६
'रामायण नाटक'	४७
'रामायण'	६०, १६५
रामास्वामी आयंगार	८४
रा. वेंकटाचलम्	८४
'रास'	५२
'रास लीला'	५२, १४०
रासिने	१०६
राय रामानन्द	६६
रिजवे	४४, ४५
'रुक्मिणी हरण'	५४
रुद्रराय बारदोलाई	६८
रुय्यक	१०१
रूप गोस्वामी	६२
'रूपक रहस्य'	१११
रूपनारायण पाण्डे	५६
'रेडियो नाटक'	१११
रेवरेण्ड जेम्स लांग	६३
रोमारोलां	११
'रोमियो जूलियट'	६०
रंगमहल थियेटर	१४७
'रंगसभा'	६६
ल	
ल. क्रि. आयरे	७३
लखदाता सिंह	७८
'ललित माधव'	६२
'ललिता दुःख दर्शन'	७५
'लव इज दि बेस्ट डाक्टर'	६३
'लक्षणसार संग्रहम्'	११६
'लक्ष्मी'	७५

	पृष्ठ संख्या
लक्ष्मीकान्त दत्त	६८
लक्ष्मीधर नायक	७०
लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ	६८
लक्ष्मीनारायण मिश्र	५८
लार्ड कर्जन	७२
'लाल चाबुक'	७०
'लाल बादशाह'	७८
'लितिकाई'	६८
'लिल्ली का ब्याह'	७८
लिलेश्वरी	७६
'लेडी फ्राम दि सी'	३४
'लेगा शौमिका'	१३८
लेबी	६८
'लैला मजनू'	१४०
लोकमान्य तिलक	७२
व	
वर्टी	७३
'वतन'	१४१
वत्स	६७, ६८
व. द. घारपुरे	११६
वफीयर	१०
वसंत जाधव	७३
वसंत दुदवड़कर	७३
वसंत शांताराम देसाई	११६
वसंत प्रभा	१५१
वृजेन्द्र वंद्योपाध्याय	११३
वृन्दावनलाल वर्मा	५८
वर्तक	१५०
'वर्तिका'	६८
'वसुन्धरा'	७५
व्यंकटेश वकील	७३

	पृष्ठ संख्या
'व्याकुल भारत'	१४१
व्यास	६८
'वाइल्ड डक'	३४
वाण	४६, ८३
वाल्टेयर	१०
वाल्टेयर पेटर	१४
वाल्मीकि	४१
'वाल्मीकि रामायण'	४१, ४७
वासुदेव कृष्ण केलकर	७१
वासुदेव शास्त्री	८८
विक्टर ह्यूगो	१०७
विक्टोरिया थियेट्रिकल कंपनी	१४१
'विक्रमोर्वशीय'	४६, ८३
विजन भट्टाचार्य	६५
'विदग्ध माधव'	६२
वि. द. साठे	११५
'विदेशिया'	५२
'विधि नाडगम्'	५२
विद्यापति	५४
'विद्या सुन्दर'	५४, ६२, ६३, १४६
'विन्टर्स टेल'	३२, ६०
'विन्दुमती'	१२१
विनायकप्रसाद	१४१
विनोदिनी	१४६
विश्वनाथ	१०, १०१
विश्वनाथ वाचस्पति भट्टाचार्य	६२
विश्वनाथ	११२
विश्वरूप थियेटर	१४७
'विशाख दत्त'	५०
'विवाह विभ्राट'	६४

	पृष्ठ संख्या
'विषस्य विषमौषधम'	५४
विष्णु प्रभाकर	५८
विष्णुदास भावे	७१
'विज्ञान गीता'	५४
'विलासवती'	१२१
'वीर अभिमन्यु'	१४२
वीरभद्र राव	८६
'वीरभद्र'	८७
'वीर तनया'	७२
वीर वामनराव जोशी	७३
वी. स. सर्वटे	११५
'वीरसिंह'	७८
वीरेशलिंगम् पंतुलु	८८
'वेद और वेदान्त'	४७
वेदपाल खन्ना 'विमल'	११२
'वेणी संहार'	५०, ५६, ६१, ८३, ८६
वेद वेंकटराम शास्त्री	८८
वेंकट रत्नम्	८८
वेलूत्तम्बिदासन	८५
'वेश'	७४
'वैदिकी हिंसा'	११४
वेंकटेश आयंगार	८७
श	
'शकुंतला'	१४१
'शकुंतला नाटक'	५४
'शकुंतला परिणयमु'	८७
शचीन्द्रनाथ सेनगुप्त	६५, ११३
'शत कर्ण'	६८
शरद बाबू	६१
श्लेगल	१०७

	पृष्ठ संख्या
शशिभूषण दास	११३
शापेन हावर	१०७
शांडिल्य	६८
'शामू शाह'	७८
श्यामसुन्दर दास	३१, १११
शारदा तनय	१०१
'शारंगधर नाडगम्'	८२
'शारीपुत्र प्रकरण'	४६
शालिगराम वैश्य	५५
'शाहजहाँ'	६५
शाह फरुखसियर	५६
शिखरचन्द्र भण्डारी	१११
'शिरुतोड़ नाडगम्'	८२
'शिल्पकार'	११६
शिलर	८०
शिलालिन	१८, ४७
शिवकुमार जोशी	७७
शिवराम करन्त	११८
शिवाजी गणेशन	८४
शिशिर भादुड़ी	१४७
शीतलाप्रसाद त्रिपाठी	१४३
'शीरी फरहाद'	१४०
शीला भाटिया	७८
'शी स्टूप्स टु कांकर'	८६
शुक्ल	११७
शूद्रक	४६, ५६
शेक्सपियर	३२, ५४, ५६, ६३, ६८, ७१, ७२, ७५, ७८, ८३, ८८, १०४, १०६

पृष्ठ संख्या

शेख नूरुद्दीन रेशी ७८
शौकत थानवी ६०
'श्रीकृष्ण कीर्तन' ६२,१४५
'शृंगार मंजरी' ५०
श्रीनिवास चक्रवर्ती ११६
श्रीनिवास नारायण बनहट्टी ११६
श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ७२, ७३
'श्री भारत रंजिनी सभा' १४४
श्रीरंग ८६, १५५
'श्रीरामलीला नाटक मण्डली' १४४
श्रीशरण ५५
शंकर देव ६५, ६६
शंकरराव जोशी ७३
शं. ब. मजुमदार ११६
शं. न. सहस्रबुद्धे ११६

स

'सगुण विलास' १५४
'स्टडीज इन दि लिटरेचर ऑफ आसाम' ११५
स्टार थियेटर १४६, १४७
स्टेनकोनों ४५
'सत्य हरिश्चन्द्र' ५४, ५५, १४३
सत्यनारायण कविरत्न ५६
सत्येन्द्र ११२
सद्गुरुशरण अवस्थी ५६
सदाशिव ६८
'सघबार एकादशी' ६४
स. ना. सूर्यवंशी ७३
'सप्त रश्मि' १२०
'सफेद खून' ६०
सरसलोचन चेट्टीयार ८३

पृष्ठ संख्या

'सर्मिष्ठा ययाति' १२१
सलिल सेन ६५
'स्वर्ग और देवता' ६६
'स्वप्न वासवदत्ता' ४६
स्वम्भू पुष्पदत्त ५०
'स्वांग' ५२
स्वामी विपुलानन्द ११८
सागर १००
साधनकुमार भट्टाचार्य ११३
'सामवेद' १०२
'सावित्री सत्यवान' ६७
'साष्टांग नमस्कार' ७३
'साहित्य अरु समालोचना ११५
'साहित्य दर्पण' १०१
'साहित्यालोचन' ३२
साहिद अहमद देहलवी ६०
स्ट्रिण्डबर्ग सिजे ६१
सिलप्पदिकारम १०३, १०४
सी. एन. अण्णातुरे ८४
सी. जे. टामस ११८
सी. बी. रामनपिल्ले ८५
सीताबेंगा गुफा १३६, १३८
सीताराम चतुर्वेदी १११
सीताराम वर्मा ५५
सीताराम ५६
'सीता लक्ष्मी' ८५
'सीताहरण' ६८
'सीता स्वयंवर' ७१
सुकुमार सेन ११३
'सुतिकठ' ७८
'सुधारक' ७२

	पृष्ठ संख्या
'सुन्दरी'	७७
सुब्रह्मण्य भारती	८२, ८३
'सुभद्रा'	७८
'सुभद्रा कल्याणम'	८२
सुरेन्द्रनाथ सेकिया	६८
सूर	५३
'सूर विजय'	१४१
सूर्यनारायण शास्त्रीयर	११८
सेलर थियेटर	१६४
'सैलिंग'	१०
सैयद मीर आगाहसन 'अमानत'	६०
सोपेन हावर	१०
सोफोक्लीज	८९, १२१
सोमनाथ गुप्त	१११
'सोमेश्वर'	७४
'सौगन्धिका हरण'	१२१
'सौभाग्य सुन्दरी'	१५१
सौमिल	४९
संतसिंह सेखा	७८
'संस्कृत ग्रामर'	६३
ह	
हजारीप्रसाद द्विवेदी	११२
'हनुमन्त नाटक'	५४
हर्बर्ट स्पेन्सर	१०
'हमारी नाट्य परंपरा'	१११
'हरिकथा'	५२
हरि कृष्ण जोहर	९०
हरिकृष्ण प्रेमी	५८
हरचरणसिंह	७८
'हरिश्चन्द्र'	२१, २४,२५ २७, ६०, ६८, ६९, ७६

	पृष्ठ संख्या
हरिश्चन्द्र खन्ना	११२
'हरिश्चन्द्र नाडगम्'	८२
हरिश्चन्द्र बारदोलाई	७०
हर्षवर्धन	५०
हाप्ट मैन	९१
'हिन्दी नाटक'	११२
'हिन्दी नाटककार'	११२
'हिन्दी नाटक के सिद्धांत और नाटककार'	११२
'हिन्दी नाटकों का विकास'	११२
'हिन्दी नाटक साहित्य'	११२
'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'	१११
'हिन्दी नाट्य समिति'	१४४
'हिन्दी में समस्या नाटक'	११२
'हिन्दी एकांकी'	११२
'हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास'	११२
'हिन्दी एकांकी और एकांकीकार'	११२
हीगल	१०, १०७
हेमचन्द्र बरुआ	६७
हेमेन्द्रनाथ दासगुप्त	११३
'हेम्लेट'	६०, ७१
हेरोसिम लेबेदेफ	६३, १४६
'होमरूल'	८६
होरेस	२८, ९८, १०५, १०६, १०९
हृदयराम	५४
क्ष	
क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद	६४
क्षेमेन्द्र	१०

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
त्र		**ज्ञ**	
त्रिगुणायत	९६	ज्ञानी गुरुबख्शसिंह	७८
'त्रिपुरदाह'	४४	**ऋ**	
		'ऋग्वेद'	४२, ९६, १०२

*सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

१ अग्निपुराण
२ कवि कण्ठाभरण—क्षेमेन्द्र
३ काव्यमीमांसा—राजशेखर
४ काव्य प्रकाश—मम्मट
५ काव्यादर्श—दण्डी
६ काव्यानुशासन—हेमेन्द्र
७ दशरूपक—धनंजय
८ ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धनाचार्य
९ नाट्य दर्पण—रामकन्द्र तथा गुणकन्द्र
१० नाट्य शास्त्र—भरत मुनि
११ भाव प्रकाश—शारदातनय
१२ रस गंगाधर—पंडितराज जगन्नाथ
१३ वर्णरत्नाकर—शेखराचार्य
१४ साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
१५ हृदय दर्पण—भट्ट नायक

हिन्दी

१ अभिनव नाट्य शास्त्र—श्री सीताराम चतुर्वेदी
२ आधुनिक हिन्दी नाटक—डा. नगेन्द्र
३ एकांकी नाटक—श्री अमरनाथ गुप्त
४ एकांकी कला—डा. त्रिलोकीनारायण दीक्षित
५ नाटक—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
६ नाट्य कला एवं साहित्य की रूपरेखाएँ—श्री शिखरचन्द्र भण्डारी
७ नाट्य कला दर्शन—श्री चन्द्रराज भण्डारी
८ नाट्य निर्णय—श्री रमाशंकर शुक्ल
९ नाट्य प्रबन्ध—डा. बलदेवप्रसाद मिश्र

*इनमें नाट्य रचनाएँ सम्मिलित नहीं हैं

१० नाट्य शास्त्र—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
११ पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य—डा. सोमनाथ गुप्त
१२ मध्यकालीन हिन्दी नाट्य परम्परा और भारतेन्दु—श्री कुंवर चन्द्रप्रकाशसिंह
१३ रूपक रहस्य—डा. श्यामसुन्दर दास और डा. पीताम्बर दत्त
१४ रेडियो नाटक—श्री हरिश्चन्द्र खन्ना
१५ हमारी नाट्य परम्परा—श्री दिनेशनारायण उपाध्याय
१६ हिन्दी एकांकी—डा. सत्येन्द्र
१७ हिन्दी एकांकी और एकांकीकार—डा. रामचरण महेन्द्र
१८ हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास— „
१९ हिन्दी नाटक—डा. दशरथ ओझा
२० हिन्दी नाटक—डा. बच्चनसिंह
२१ हिन्दी नाटक का इतिहास—डा. सोमनाथ
२२ हिन्दी नाटकों का विकास—डा. विश्वनाथ
२३ हिन्दी नाटककार—प्रो. जयनाथ नलिन
२४ हिन्दी नाटक के सिद्धान्त और नाटककार—डा. रामचरण महेन्द्र
२५ हिन्दी नाटक साहित्य—डा. वेदपाल खन्ना
२६ हिन्दी नाट्य विमर्श—डा. गुलाबराय
२७ हिन्दी नाट्य साहित्य—श्री ब्रजरत्न दास
२८ हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास—श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र
२९ हिन्दी में समस्या नाटक—श्री गोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव

उर्दू

१ उर्दू ड्रामा—श्री अब्दुस्सलाम खुर्शीद
२ उर्दू ड्रामा और स्टेज—श्री मसूद हसन रिजवी आदिब
३ उर्दू लिटरेचर—डा. रामबाबू सक्सेना

बंगला

१ नाटकेर कथा—श्री अजीतकुमार घोष
२ नाटक ओ नाटकीयता—श्री साधनकुमार भट्टाचार्य
३ नाट्य साहित्येर आलोचना ओ नाटक विचार—श्री साधनकुमार भट्टाचार्य
४ बंगभाषा और साहित्य—डा. दिनेशचन्द्र सेन

५ बंगीय नाट्य-शालार इतिहास—श्री ब्रजेन्द्र नाथ बंद्योपाध्याय
६ बांगला नाटक ओ नाट्य शास्त्र—श्री शचीन सेन गुप्त
७ बांगला नाटकेर इतिहास—श्री अजीत कुमार घोष
८ बांगला नाटकेर उत्पत्ति—श्री मन्मथ मोहन वसु
९ बांगला नाटकेर इतिवृत्त—श्री हेमेन्द्रनाथ दाश गुप्त
१० बांगला नाट्य साहित्येर इतिहास—श्री ब्रजेन्द्र बंद्योपाध्याय
११ बांगला सामयिक साहित्य—श्री ब्रजेन्द्र नाथ बंद्योपाध्याय
१२ बांगला साहित्य नवयुग—डा. शशिभूषण दास
१३ बांगला साहित्येर कथा—श्री सुकुमार सेन

उड़िया

१ उड़िया नाट्य कला—प्रो. जी. एस. रे
२ उड़िया लिटरेचर—प्रो. जे. बी. महन्ती
३ दंड नाट्य—डा. एस. एन. साहू
४ नाटक विचार—प्रो. एस. दास
५ माडर्न उडिया लिटरेचर—प्रो. पी. आर. सेन
६ साहित्य समीक्षा—प्रो. के. सी. मिश्र
(दूसरी व पाँचवी पुस्तकें अंग्रेजी में हैं)

असमिया

१ आसामीज ड्रामा—श्री पी. गोस्वामी
२ माडर्न आसामीज लिटरेचर—डा. बी. के बरुआ
३ स्टडीज इन दि लिटरेचर ऑफ आसाम—डा. एस. के. भुइयाँ
४ साहित्य अरु समालोचन—श्री अतुलचन्द्र बरुआ
(पहली, दूसरी और तीसरी पुस्तकें अंग्रेजी में हैं)

मराठी

१ अभिनव कला—श्री द. व. मिरजकर
२ अर्वाचीन मराठी साहित्य—श्री वी. ए. सर्वटे
३ नाटक आणि नाटककार—श्री वसन्त शांताराम देसाई
४ नाटक लेखन रहस्य—श्री श. न. सहस्रबुद्धे
५ नाटक शास्त्र आणि तंत्र—कैप्टन माधवराव कृष्णाजी शिन्दे
६ नाट्य कला प्रवेश—श्री अवधूत महादेव जोशी

७ नाट्य कसें पहावें—श्री श. ब. मुजूमदार
८ नाट्य तंत्र—श्री नामदेव व्हटकर
९ नाट्य दर्शन—श्री नन्दू खोटे
१० नाट्य परामर्श—श्री र. कृ. फडके, शिल्पकार
११ नाट्य विषयक व्यापक विचार—श्री गो. ब. बापट
१२ नाट्य विषयक सुशिक्षित चर्चा—श्री फाटक बर्वे
१३ नाट्य शास्त्र संग्रह—डा. टी. चन्द्रशेखरन द्वारा सम्पादित
१४ नाट्य सृष्टि—श्री व. द. घारपुरे
१५ मराठी नाट्य रचना (तंत्र आणि विकास)—श्री वि. द. साठे
१६ मराठी नाट्य सृष्टि—डा. वि. प. दांडेकर
१७ मराठी रंगभूमि—मामा वरेरकर
१८ मराठी रंगभूमीचा इतिहास—श्री श्रीनिवास नारायण बनहट्टी
१९ मराठी वाङ्मय—प्रो. अ. न. देशपांडे
२० मराठी साहित्याचा इतिहास—डा. विश्वनाथ पांडुरंग दांडेकर

गुजराती

१ एकांकी स्वरूप अने साहित्य—श्री नन्दकुमार पाठक
२ नाटक करीये—श्री रमेश कोठारी
३ नाटक भजवतां—श्री चन्द्रवदन मेहता
४ नाटक भजवतां पहेला—श्री चुन्नीलाल मंडिया
५ नाट्य रस—श्री रामप्रसाद प्रे. बक्शी
६ नाट्य शास्त्र—श्री नाथूराम सुन्दरजी शुक्ल
७ नाट्य शिक्षणना मूल तत्वो—श्री जसवंत ठाकूर

तमिल

१ कला वियल टीकाकार—श्री नक्कीरा
२ तोल काप्पियम्—तोलकाप्पियर
३ नाडग वियल—डा. सूर्यनारायण शास्त्रीयर
४ मणि मेकलइ
५ मादंग चूड़ामणि—श्री स्वामी विपुलानन्द
६ सिलप्पदिकारम

(चौथी और छठवीं पुस्तक की चर्चा अन्य लेखों व ग्रन्थों में आयी है)

मलयालम

१ ओएरुन्न यवनिका—श्री सी. जे. टामस
२ चक्किचन कर्म—श्री रामकुरुप
३ नवीन नाटक दर्शनम्—श्री परमेश्वरन पिल्लई
४ नाटक प्रवेशिका—श्री पी. डी. हरिशर्मा

कन्नड़

१ कर्नाटक थियेटर—डा. एच. के. रंगनाथ
२ पवकगरा बैलाश—श्री शिवराम करन्त
(पहिला ग्रन्थ अंग्रेजी में है)

तेलुगु

१ अभिनयम्—श्री श्रीनिवास चक्रवर्ती
२ आंध्र नाटक रंगमु—श्री गोल्लपुडी रामशास्त्री
३ दक्षिण देशमुलू नाट्यमुलू—श्री टी. सीतारामराव
४ नटन—श्री श्रीनिवास चक्रवर्ती
५ नृत्य रेखा—श्री नटराज रामकृष्ण
६ नर्तन बाला— „ „
७ नाट्य फलमु, —श्री पुरानम् सूर्य शास्त्री
८ नाट्याम्बुजमु— „ „
९ नाट्य वन्दमु —श्री माधवराम शर्मा
१० लक्षण तार संग्रहमु—श्री चित्रकविपेद्दाण द्वारा लिखित और श्री एन. वेंकटराव द्वारा सम्पादित

अंग्रेजी

1 Annals of English Drama—Alfred Harbage
2 Aristotle's Poetics—An Introduction to Dramatic Theory —A. Nicole
3 Avs Poetica—Horace
4 Art of Poetry—Aristotle
5 Aspects of Shakespeare—Lecture
6 A Study of Modern Drama—Barreit H. Clark
7 Bernard Shaw—A. C. Ward
8 British Drama—A. Nicole
9 British Theatre—Peter Noble
10 Characters of Shakespeare's Plays—William Hazlitt
11 Creative Imagination—Downe
12 Drama—Ashley Ducas

13 Dramas from Ibsen to Eliot—Williams
14 Dramatic Technique—G. P. Barker
15 Early Victorian Drama—E. Reynolds
16 Elizabethian Drama—Sir F. E. Sheeling
17 Encyclopaedia Britannica p. p. 576 v. VII
18 English Dramatists Today—William Archer
19 English Drama from Early Times to the Elizabethian—A. P. Rossister
20 European Drama—N. Scarlyn Wilson
21 European Theories of Drama—Barret H. Clark
22 History of English Dramatic Literature—Sir A.W.Ward
23 Modern English Drama—E. Reynolds
24 Modern Theatres—Irwing Pichel
25 Of Dramatic Poetry—Dryden
26 Prefaces—G. B. Shaw
27 Shakespearean Comedy—Gorden
28 Shakespearean Tragedy—Bradley
29 Stage Managements—Peter Bax
30 Stage Decoration—Sheiden Warren Chauly
31 The Anatomy of Drama—A. R. Thompson
32 The Art of Drama—F. B. Miller & G. E. Bentley
33 The One Act Play Today—William Kozlenco
34 The Drama—Alfred Bats
35 The Dramas of Kalidas—Bela Bose
36 The Development of Dramatic Art—Clive Stuart Donald
37 The Dramatic Imagination—E. P. Jones
38 The People's Theatre—Romair Rollard
39 The Philosophy of Fine Arts—Hegel
40 The Sanskrit Drama in Its Origin Development, Theory & Practice—Keith
41 The Tragic Drama of the Greeks—A.E. Heigh
42 Tragedy—F. L. Lucas
43 Types of English Drama—Aschton
44 Quintessence of Ibsenism—G. B. Shaw
45 What is Art ?—Tolstoy